परम पूज्य १०८ श्री निर्ग्रन्थ जैनाचार्य

श्री सूर्यसागरजी महाराज द्वारा विरचित

विवेक मार्तण्ड

सम्पादक

पं० कमलकुमार जैन गोइल

व्याकरण न्याय काव्यतीर्थ साहित्य धर्मशास्त्री

इन्दौर

प्रकाशक

वर्णी लक्ष्मीचन्द्र

आचार्य सूर्यसागर संघ

द्वितीयवार १००० | का. शु. १५ वि. सं. २००७ | मूल्य स्वाध्याय

सम्पादकीय प्राक्कथन

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय परम १०८ श्री दिगम्बर जैनाचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज ने जब से साधु जीवन में प्रवेश किया है तब से आप निरंतर आभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में ही अपना ध्यान में अतिरिक्त समय व्यतीत किया करते हैं सतत तपश्चर्या और ज्ञान की सच्ची अर्चा से जो आपने अपना ज्ञान रत्नाकार संचित कर रखा है उसमें से आज तक लग भग १० या ग्यारह रत्न संसार के कल्याण की दृष्टि को लक्ष्य में रखकर जन साधारण के समक्ष मुद्रित एवं प्रकाशित होकर आ चुके हैं जैन ग्रंथ रत्नों के अप्रतिम ... में तत्त्व जिज्ञासुओं का अज्ञानान्धकार कितना निरस्त हुआ इसका अन्दाजा तो स्वाध्याय प्रेमी

तत्त्व बुभुत्सु ही जगा सकते हैं। यह तो निर्वि-
वाद है कि आज की प्रचलित भाषाओं में जितना
साहित्य प्रकाशन होगा वह उतना ही जनता को
धार्मिकता की ओर अग्रसर कर सकेगा। महाराज
श्री प्रायः अपने मुखारविन्द से यही कहा
करते हैं कि हमारे कल्याण की भावना से
ओत प्रोत हृदय पूर्वाचार्यों ने जिस अथक
परिश्रमद्वारा ज्ञानसागर का अपनी अनुपम
प्रतिभा से मन्थन कर सार भूत तत्त्वों को
ग्रंथित कर के रखा है उनका हमारे ऊपर
अनिर्वचनीय कृपासम्भार है उसी के बल पर
ही आज के अल्पज्ञानी अपने अज्ञानान्धकार
को छिन्न भिन्न करके आत्मज्ञान ज्योति को
जागरूक कर रहे हैं लेकिन ऐसे ज्ञानियों की
संख्या भी आज नहीं के समान ही है अतः वर्त-
मान के तत्त्वानभिज्ञों को एवं भविष्य की ओर
विहंगम दृष्टि से जब हम अवलोकन करते हैं
तब हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन पूर्वा-

आर्यों की अतुल विज्ञाननिधि को अक्षुण्ण बनाये रखने एवं धाराप्रवाह से प्रवाहित करने के हेतु हमें इस का कुछ न कुछ रूपांतर करना ही पड़ेगा। आज जनता की आत्मा प्रगति में भाषा का भी एक अभूतपूर्व महत्व माना जाने लगा है जो स्वाभाविक है क्योंकि किसी की भी आत्मोन्नति का प्रधान साधन उसकी तात्कालिक प्रचलित एवं प्रभावित भाषा ही हुआ करती है साथ ही लोकाभिरुचि को भी विशेष महत्व देना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि इन्द्रिय विषयों में लिप्त चित्त निरन्तर आर्त रौद्र प्रवृत्ति में निरत भोगोपभोग की सामग्री के संचय में आकुल व्याकुल; निजपरिणति से सर्वथा पराङ्मुख, हेयोपादेय के विज्ञान से नितान्त शून्य, संसार चक्र में रचे पचे हीनातिहीन दशाओं से बचे खुचे, विज्ञान की समुद्भूति और विशिष्ट आत्म ज्ञान ज्योति की जागृति के उपयुक्त साधन सम्पन्न, जन समुदाय

में विशेष विवेक को निष्पन्न करने में सतत अविश्राम अकथ और अकथ श्रम करने वाले पूज्य श्री आचार्य सूर्यसागरजी महाराज जब इन्द्रभवन के १००८ भगवान चन्द्रप्रभ के चैत्यालय के समीपवर्ती सुरम्य वैराग्य भवन (स्वाध्याय सभाभवन) में एवं तत्समीपस्थ विशाल प्राङ्गण में तत्त्वजिज्ञासु जनों को तत्त्व चर्चा एवं जिनवचनार्चा में संलग्न हो जाते हैं उस समय तो हमें ऐसा प्रतीत होता है मानो साक्षात् मूर्तिधारी मोक्षमार्ग ही उपस्थित हो गया हो आपकी भव्योन्नारक भव्य उपदेशात्मक वचन रचना चातुरी तो श्रोताओं के अज्ञान तमसावृत्त चित्त में भास्कर प्रकाश के समान प्रकाश करने में तत्काल ही वचना गोचर प्रभाव का प्रदर्शन करती है उस समय की अलौकिक अभूतपूर्व सुख शांति का वर्णन करने में हमतो अपने आप को सर्वथा ही असमर्थ पाते हैं। आप महर्षि जगदुद्धारक

परम दिगम्बर सद्धर्म तत्वोपदेष्टा और अन-
भिषिक्त जैन सम्राट श्रीमन्त सेठ सर हुकम-
चन्द्र जी जैसे भव्योत्तम श्रोताओं के सम्मेलन
का मनोरम दृश्य देखकर तो किसी भी दर्शक
के चित्त में चतुर्थ काल के दृश्य का साक्षातकार
हुए बिना नहीं रह सकता ऐसे सत्समागम
के पावनतर प्रसंग को प्राप्त करके तो हमारा
मन आनन्द से विभोर हो उठता है और
महात्मा धन्य २ की अनन्त ध्वनि हृदय की
अतुल गुदगुदी की तान से सन्तापित हो मुखमंदिर
को ध्वनित किये बिना नहीं रहती। ऐसे
निर्मम परम तपोधन लोकोत्तर ज्ञान ध्यान
में संलग्न मुनिराज को देखकर तो भक्ति गंगा
की उत्तुंग तरंगें उछलती हुई मानस सागर
में ही विलीन हो जाती हैं। ऐसे मुनिश्वर का
सकल लोकोपकारक सदुपदेशात्मक यह
'विवेक मार्तण्ड' नामक संग्रह ग्रन्थ अपने नाम
को सार्थक करने में अद्वितीय पूर्व एवं अद्भुत पूर्व

सफलता प्राप्त करेगा ऐसी हमारी मनोभावना है पर पदार्थ के व्यामोह से विमोहित मानवों के मनोमंदिर में स्वपर भेद विज्ञान को जागृत करने में और स्वपर में एकत्वरूप सन्तमस को समुच्छिन्न करने में यह " विवेक मार्तण्ड " प्रचण्ड अखण्ड प्रताप एवं प्रकाश का कार्य करेगा यह निःसंदेह है क्योंकि इसी प्रकार की प्रबलतम एवं पवित्रतम सद्भाव भावना से प्रेरित होकर ही आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ में स्वानुभूत दृष्ट श्रुत विषयों पर पर्याप्त दृष्टांत आदि से अपनी परम पुनीत विचार धारा को अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित किया है इसका विवेचन करना इस समय हमें अनुपयुक्त एवं अनावश्यक सा प्रतीत होता है। पाठकगण स्वयं ही इसे पढ़कर इसकी सार्थकता का निरीक्षण परीक्षण एवं समीक्षण कर अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँच जायेंगे क्योंकि 'हाथ के कंकण को आरसी की आवश्यकता नहीं होती'।

सम्पादन कार्य भार कैसे मिला।

एक दिन बातचीत के सिलसिले में आचार्य संघ के माननीय आदरणीय श्रद्धेय पू० ब्र० लक्ष्मी चन्द जी महाराज ने हमारी ओर संकेत करते हुए कहा पंडित जी आचार्य महाराज ने 'विवेक मार्तण्ड' नामक एक संग्रह ग्रन्थ तैयार किया है उनकी इच्छा है आप इस ग्रन्थ का संपादन करें तो अच्छा है। हम यह बात सुन कर अपने में संपादन जैसे दायित्व पूर्ण कार्य की क्षमता के अभाव का अनुभव कर क्षणभर तो चुप रहे पश्चात् महाराज श्री के चरण कमलों के प्रसाद से ही सम्पादन कार्य में सहिष्णुता एवं सफलता अवश्य ही प्राप्त होगी ऐसा सोच विचार कर एवं पू० ब्र० जी की आज्ञा का उल्लंघन अनुचित एवं अयोग्य समझकर हमने तत्काल ही उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। फलतः यह संपादित संग्रह ग्रन्थ

धर्म प्रिय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। हमने यथाशक्ति एवं यथाभक्ति और यथामति इसका संपादन त्रियोग से किया है फिर भी हमारी असावधानी एवं बुद्धि की मन्दता से यत्रतत्र अशुद्धियों का रह जाना बहुत कुछ सम्भव है अतः विज्ञ पुरुषों से हमारी विनम्र प्रार्थना है कि वे हमें मतिमन्द जानकर हमारे ऊपर क्षमा भाव धारण करेंगे और उपलब्ध त्रुटियों को यथासमय सूचना देकर हमें अनुगृहीत करेंगे। जिससे अगले संस्करण में हमें सब तरह से शुद्ध संपादन करने की सुविधा प्राप्त हो। आशा है विज्ञ स्वाध्याय प्रेमी साधर्मी सज्जन हमारे पूर्वोक्त निवेदन को ध्यान में रखकर हमें यथा समय अनुगृहीत करते रहेंगे।

प्रकाशक के दो शब्द

यह विवेक मार्तण्ड' संग्रह ग्रन्थ भी परम पूज्य १०७ आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज ने इन्दौर में रहकर ही तैय्यार किया है। धर्मात्मा श्रावकों के अनुरोध से ही इसका पुनः प्रकाशन हो रहा है। इसमें निम्न लिखित महानुभावों ने अपनी दानशीलता का जो परिचय दिया है वह अति प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। निम्न लिखित दाताओं को हम कोटिशः धन्यवाद देते हैं और भविष्य में भी वे इसी प्रकार से धर्मकार्य में निरत रहेंगे ऐसी हम आशा करते हैं।

वर्णी लक्ष्मीचन्द्र जैन आ० सूर्यसागर संघ

परम पूज्य तपोनिधि

आचार्य १०८ श्री सूर्यसागरजी महाराज

चातुर्मास दि० जैन औषधालय कोटा

सं० २००७

॥ श्री ओम् ॥
नमः सिद्धेभ्यः
श्री वीतरागाय नमः

श्री दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य १०८
श्री सूर्यसागरजी महाराज द्वारा विरचित–

विवेक मार्तण्ड

मङ्गलाचरण

निराकृताशेषकलङ्कपङ्को
निश्शेषवित्सत्त्व हितोपदेष्टा।
सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रवन्द्यः
श्री वर्द्धमानो दिशतु श्रियं नः

अर्थ—१००८ श्री वर्द्धमान भगवान् ने अपने आत्मा से समस्त कर्मरूपी कलङ्क अर्थात् द्रव्य कर्म ज्ञानावरण आदि तथा भाव कर्म रागद्वेष आदि मैल कीचड़ को धो डाला है और जो समस्त

मूर्त तथा अमूर्त पदार्थों के ज्ञाता सर्वज्ञ हैं और जो सर्व संसारी जीवों को कल्याणकारी उपदेश देते हैं तथा जो भवन वासी व्यन्तर ज्योतिषी और कल्पवासी देवों के स्वामी इन्द्रों से तथा मनुष्यों के स्वामी चक्रवर्ती और तिर्यञ्चों के स्वामी सिंह इस प्रकार सौ इन्द्रों से वन्दनीय हैं वे अनन्त चतुष्टय (अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सुख और अनन्त वीर्य) तथा बहिरङ्ग समवशरण रूप लक्ष्मी से सुशोभित चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामी हम लोगों के लिये अविनश्वर मोक्षलक्ष्मी को देवें।

आत्मानुभव

इस प्रकार मंगलाचरण करके हे भव्यात्माओ मैंने इस संसार अवस्था में रहकर जो कुछ भी आत्मा का हित समझा है उसे मैं तुम्हारे सामने कहता हूं तुम ध्यान से सुनो। इससे तुम्हें भी आत्म कल्याण का मार्ग मिलेगा ऐसा मेरा

प्रश्न—हे आत्मन तू विचार जो तेरी आत्मा है वह अनादिकाल है या नवीन उत्पन्न हुई है ?

उत्तर यह है। इस संसार में ऐसे बहुत महा पुरुष हुए हैं जो परिपूर्ण ज्ञानी (सर्वज्ञ) थे। उन महात्माओं ने अपने दिव्य ज्ञान नेत्रों से इस आत्मा का साक्षात्कार किया और सिद्धांततः प्रत्येक आत्मा अनादि और अनन्त है। न तो यह जन्म लेता है और न मृत्यु को प्राप्त करता है। इस तरह हे आत्मन ! तू अनादि तथा अनन्त है न तो तेरा आदि है और न अन्त है तू तो जैसा है वैसा ही है।

सांसारिक सम्बन्ध

लेकिन अनादिकाल से तू कर्मजाल में फंसा हुआ है अतः चतुर्गति (नरकगति) तिर्यंचगति मनुष्यगति और देवगति) में यह आत्मा भ्रमण कर रहा है। इस चक्र में इस आत्मा के साथ किन २ आत्माओं के कितने २ सम्बन्ध (नाते) हो गये हैं उन्हें यहां संक्षेप में बताया जा रहा है—

ऐसा क्षेत्र रहा नहिं यहाँ—
तेरा जन्म हुआ नहिं जहाँ।
ऐसा जीव कोई नहीं यहाँ—
तेरे नाते बिन कोई न यहाँ॥

यहां—इस संसार में अर्थात व्यवहार राशि में न तो ऐसा कोई क्षेत्र (स्थान-प्रदेश) रहा जहां पर तेरा जन्म न हुआ हो। और न कोई ऐसा जीव ही रहा जिससे तेरा नाता-सम्बन्ध अनन्तवार न हुआ हो। इसलिये हे जीव! अब तू समझ? मेरी बात सुन?

संसार की असारता

इस संसार में कोई सार नहीं। यह माया ममता ही इस जीव को नचाती फिरती है और यही इस जीव को समझाये रहती है कि यह तेरी माता है यह तेरा पिता है। और यह तेरा भाई है। यह तेरी अर्द्धाङ्गिना स्त्री है। परन्तु इस शास्त्रों में तेरे वास्ते श्री गुरुओं ने क्या क्या उपदेश दिया है—

कोई न माता ना कोई पिता
भाई न स्त्री न कोई सुता।
अहंकार ममकार रहाजता,
सिद्धसमान तू पारहारचता ॥

आगे और कहते हैं—

मात पिता स्वजन बन्धु सुमित्र भाई
कोई न साथ जग में चलता कभी है
संसार में भ्रम रहा चिरकाल से तू—
साथी न जग में कभी कोई हुआ है

हे जीव! माता पिता स्वजन बन्धु भी इस जीव के साथ कोई भी नहीं जाता। देख तेरी आत्मा ने कितने जन्म और मरण किये हैं उन्हीं को यहां पर दिखाते हैं।

संसार में भ्रमण को करते हुए ही
हा मृत्यु के दुःख सहे जिसका न पार

सर्वज्ञ देव बिन तो उनकी कभी भी
जानी न जाय गणना इस लोक के मँझार

हे जीव ! इस संसार में कब से तू भ्रमण कर रहा है कितने तेरे माता पिता हो गये और कितने दुःख तूने सहे इनकी गणना करने वाला सिवा सर्वज्ञ देव के दूसरा कोई भी नहीं हुआ है, और न होगा। हे जीव ! तू ममता के सम्बन्ध से कुटुम्ब को अपना जानता है लेकिन श्री गुरु महाराज का इसके सम्बन्ध में क्या ही उत्तम उपदेश है सुनः—

अथिर सुपरिजन पुत्र कलत्र,
सभी मिले हैं दुःख के सत्र
चिन्तो चित में निश्चय भ्रात,
जननी कौन कौन तब तात

हे जीव ! पुत्र स्त्री कुटुम्बी जन आदि जितने भी हैं वे सब अनित्य हैं तथा सर्व ही मिलकर दुःख देने वाले हैं। हे भाई जरा विचार इस संसार में कौन किसका भाई है, कौन किसकी माता और

किसका कौन पिता कौन किसका पुत्र और किसकी स्त्री सब कोई संसार स्वार्थ के साथी हैं।

॥ दोहा ॥

स्वारथ में सब कोइ भये
स्वारथ बिना न कोय।
जब सध जाता स्वारथ तब,
बात न पूछे कोय ॥

हे भव्य जीवो ! आप खुद अपनी आंखों से सदा सब को देखते हो संसार में जितने जीव हैं वे सब स्वार्थ के ही साथी हैं।

सज्जन चित्त वल्लभ नामा ग्रन्थ में भी ऐसा ही कहा है—

जो घर में धन हो न कदापि
करै तिय सोच मरे बलमा की
जो नहिं हो धन तो नित रोवत
धारि हिए अभिलाख जिया की

दग्ध किये पर सर्व कुटुम्ब के
स्वार्थ लगैं ममता तज ताकी
केतिक वर्ष गये अबलाजन
भूलहिं नाम न लें सुधि वाकी

हे आत्मन् ! तू देख ! इस संसार में स्त्री का जो कुछ भी सर्वस्व है वह पति ही है। परन्तु पति के मर जाने पर वह उसका नाम तक नहीं लेती। अब विचार संसार में सभी जीव स्वार्थवश एक दूसरे से प्रेम करते हैं धन के वास्ते यह जीव धनवान से प्रेम करता है धर्म के लिये नहीं।

कल्पना कर ! किसी समय किसी घर में चार बाल बच्चे हों और उस दिन उस घर में अनाज उतना ही हो जितने में उस दिन का भोजन हो जाय ऐसे समय पर वह पुरुष कहीं धर्म स्थान पर धर्म साधना में बैठ जाय तब फिर देख उसके घर वालों को उसके ऊपर कितना और कैसा प्रकोप

होता है जिसे सुनकर सुनने वाले का हृदय धड़कने लग जाय क्योंकि धन की चाह लालसा रखने वाले घर वालों का उस दिन उसके साथ सिंह जैसा व्यवहार होगा। जैसे बकरी के बच्चों को भूखा सिंह खाने को दौड़ता। ऐसा व्यवहार देखकर हे जीव तू अपने विषय में भी ऐसा ही विचार कर। अगर तुझे विश्वास न हो तो तू अपने असली कुटुम्बियों के साथ एक दिन ऐसा व्यवहार कर देख तब तुझे यह भली भांति ज्ञात हो जायगा कि कुटुम्बीजन कितने स्वार्थी (मतलबी) होते हैं जैसा कि किसी कवि ने कहा है।

[दोहा]

निजलक्ष्मी की खान को कुटुम्बी भये अनेक
या का फल भुगतत समय साथी भया न एक

इसलिए हे आत्मन् इस संसार में कोई किसी का नहीं है। कुटुम्बी जन इस प्राणी के साथ कब तक और कैसा व्यवहार करते हैं। सुनिये

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनः स्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥

अर्थ—धन-रुपया पैसा इस जमीन पर ही पड़ा रहता है। पशु गाय भैंस आदि गोष्ठ-अपने स्थान पर ही रह जाते हैं। स्त्री घर के दरवाजे पर ही रह जाती है। शेष कुटुम्बी जन-बन्धु आदि स्मशान तक चले जाते हैं। शरीर अग्नि की चिता में ही भस्म हो जाता है सिर्फ एक जीव ही किये हुए कर्म के अनुसार परलोक के मार्ग पर चलता है।

अतः हे जीव! जरा तो विचार कर कि जब कुटुम्बियों का इस जीव के साथ इस प्रकार का व्यवहार है तब यह मिथ्यादृष्टि-मोही जीव मोह के दल दल में फंसकर अपने हित के लिये थोड़ा सा भी विचार नहीं करता यह इसकी कितनी बड़ी भूल है।

धन की महत्ता और उपयोगिता

इसलिए हे जीव अब तू विचार कि तेरा धन के बिना यहां कौन है यहां तो सिर्फ एक ही धन का ही दौर दौरा है धन के बिना कोई किसी का नहीं है। धनवानों का ही इस जग में आदर सम्मान और सत्कार होता है परन्तु धन की शोभा पुण्य कार्य में दान किये बिना नहीं होती धन पाने का फल उदारता पूर्वक दान करना है।

एक कहावत है कि "अगर के डिब्बे से दिमाग तर और ठंडा नहीं होता" यदि उस अगर को तुम डब्बे में से निकाल कर अग्नि में डालोगे तो उसकी सुगंधि खुशबू से-तुम्हारा दिमाग-मगज-मस्तक सुगंधित और तर हो जायगा। इसी तरह से ही यदि आप संसार में बड़प्पन चाहते हो तो अपने पुण्योपार्जित धन को पुण्य कार्यों में दो जिससे निर्धन दुःखी भुखी रोगी अज्ञानी जनता का कल्याण हो और तुम्हारा यश सारी दुनियां में फैले और परलोक में तुम अनुपम ऐश्वर्य शाली बनो।

यही बात नीचे दिये गये श्लोक मे जाहिर होती है।

सुपात्रदानाच्च भवेद्धनाढ्यो
धनप्रभावेण करोति पुण्यम् ।
पुण्यप्रभावात्सुरलोकवासी,
पुनर्धनाढ्यः पुनरेवभोगी ॥

अर्थात—सुपात्र दान से यह जीव धनवान बनता है और धन के प्रभाव से पुण्य का उपार्जन करता है और पुण्य के प्रभाव से स्वर्गवासी देव होता है तत्पश्चात धनवान भोग तथा उपभोग की सामग्री का भोगने वाला होता है। इस तरह से हे जीव देख धनवान धन के दान से संसार में भी सांसारिक सुख का भोगने वाला होता है इसलिए हे भव्यात्माओ यदि तुम संसार में रहते हुए भी सुखी रहना चाहते हो तो तुम अपने आय के धन का व्यय करते समय दान का भी ध्यान रखो प्रतिदिन की आय का कुछ न कुछ

हिस्सा दान में जरूर ही खरचो जिससे तुम्हारा इस भव में सम्मान हो और परभव में भी तुम संपत्ति शाली बन सको दान करते वक्त इस बात का ध्यान रखो कि मैं जो दान में द्रव्य दे रहा हूं वह उपयोग में आरहा है या नहीं। यदि उपयोग में भी आता है तो अच्छे कार्यों में ही आता है बुरे कार्यों में तो नहीं।

मैंने जिस उत्तम कार्य के वास्ते द्रव्य दान किया है वह उस काय में खरचा जा रहा या नहीं वह सिर्फ किसी तिजोरी की शोभा तो नहीं बढ़ा रहा है। दान देते वक्त पात्र अपात्र का भी ध्यान रखना जरूरी है। ऐसा न करने से कभी कभी दान में दिये हुये द्रव्य से उपकार के बजाय महान् अपकार-अनर्थ के होजाने की आशंका हो जाती है, जैसा कि नीचे लिखी गई कथा से सर्वथा स्पष्ट है।

सौराष्ट्र देश में एक धीवर रहता था उसके पास की निजी सारी सम्पत्ति नष्ट भ्रष्ट हो गई तब

भीख मांग कर अपने उदर की पूर्ति करने लगा। लेकिन भीख मांगने मात्र से उसके सारे कुटुम्ब का निर्वाह होना अति कठिन था अत: उसने अपने कुटुम्बी जनों का पालन पोषण करने का विचार किया। परन्तु उस भेष में उसको आदर पूर्वक कौन दान दे सकता था तब उसने सोचा कि अगर मैं किसी भी प्रकार से साधु बन जाऊं तो मेरा सारा मनोरथ सफल हो जायगा, अतः वह एक अच्छे साधु का भेष बनाकर किसी गांव में जा पहुँचा। साधुजी को आया हुआ सुन कर दर्शनों की अपार भीड़ उनके दर्शनों लिये उमड़ पड़ी अब क्या था बड़े बड़े सेठ साहूकार भी उनके दर्शकों को जाने आने लगे। साधु जी इस तरह से खूब पुजने लगे। एक दिन साधु जी ने विचार किया कि बड़े २ लोग मेरे भक्त हो गये हैं इसलिए मुझे अब अपना उल्लू सीधा करना चाहिए अर्थात् अपना मतलब गांठना चाहिए।

एक दिन साधुजी ने अपने परम भक्त एक अच्छे धनी मानी सेठजी से कहा कि सेठजी मैं जहां का रहने वाला हूं वह एक अच्छा धर्मसाधन का स्थान है लेकिन वहां पर कोई ऐसा मठ जैसा स्थान नहीं बना है जिसमें रहकर धर्मात्मा लोग विशेष धर्म साधना कर सकें अतः यदि आप मुझे कुछ धनका दान करें तो मैं अपनी अभिलाषा को पूर्ण करूं। सेठ साहब ने बिना आगा पीछा सोचे ही उस झूंट कपट भेषी साधु को बहुतसा धन दान में दे डाला। उस विपुल धन राशि को लेकर छद्म भेषी साधु ने घर आकर अपना असली धीवर का रूप धारण कर मछलियों के मारने में ही उस धन का उपयोग किया।

इसलिए हे भव्यात्माओ जिस समय तुम जो कुछ भी दान करो खूब सोच समझ कर करो क्योंकि जिस सेठ ने उस कपट भेषी साधु को दान दिया था उसके दुरुपयोग के फल से सेठ

उसी भव में अत्यन्त दयनीय दीन-हीन गरीब हो गया और महा दुःख का पात्र बना।

इसलिए ऐसी दान शीलता किस काम की जिसका फल दोनों को बुरा हो।

महा पुरुषों की आज्ञा है कि दान देते वक्त पात्र की परीक्षा करो यदि वह परीक्षा करने पर सत्पात्र हो तो उसे दान दो ऐसा करने से दोनों (देने वाले और लेने वाले) का कल्याण होगा।

केवल भक्ति के प्रवाह में बहकर बिना परीक्षा किये जिस किसी को दान देना अच्छा नहीं है। क्योंकि धन का अर्जन बड़ी कठिनता से होता है जैसे किसान पहले खेत की जमीन को जोतकर ठीक करता है पीछे बीज बोता है कब जब पानी बरस चुकता है जमीन बीज बोने के लायक हो जाती है तब वह यह भी देखता है और विचारता है कि यह जमीन इस समय कौन से बीज के योग्य है वही बीज उस में बोता है यदि

ऐसा विचार न करके वह बिना जोती बिना पानी पाई हुई विकारी जमीन में ही बीज को बो देगा तो उसे कुछ भी फल की प्राप्ति न होगी और ज्यादा तकलीफ भोगनी पड़ेगी। अपात्र को दान देने से दानी धन हीन और दरिद्र हो जाता है फिर वह निर्धन होने से कुछ भी नहीं कर सकता। इसी बात को नीचे के श्लोक से बताया जाता है।

पक्ष विकलश्चपक्षी शुष्कश्चतरुः सरश्चजलहीनम्।
सर्पश्चोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्यं लोके दरिद्रश्च॥

अर्थात जैसे पक्षों-पंखों के बिना पक्षी कर्तव्य हीन हो जाता है सूखा हुआ वृक्ष निरुपयोगी हो जाता है। जल रहित तालाब किसी का उपकार नहीं कर सकता दन्त रहित सर्प अपनी रक्षा नहीं कर सकता। वैसे ही धन हीन मनुष्य इस लोक में किंकर्तव्य विमूढ हो जाता है किसी भी छोटे बड़े कार्य को करने में समर्थ नहीं हो सकता।

बन्धुओ ! संसार में धन सबसे प्रिय पदार्थ है क्योंकि धन के बिना मनुष्य का जीवन व्यर्थसा हो जाता है धन से होने वाले कार्यों को वह बिना धन के नहीं कर सकता । नीतिकार कहते हैं :—

परोपकारशून्यस्य धिङ्‌ मनुष्यस्य जीवितम् ।
धन्यास्ते पशवो येषां चर्माण्युपकरिष्यति ।

अर्थात—परोपकार रहित मनुष्य का जीवन धिक्कार है इससे तो वे पशु ही अच्छे हैं जिनका चमड़ा प्राणियों का उपकार करता है ।

हे बन्धुओ ! संसारी जीवों का बन्धुरूप उपकारी एक धर्म ही है और वह धर्म परोपकार रूप भी है इसी बात को हमारे नीतिकारों ने भी पुष्ट किया है वे कहते हैं—

परोपकारः कर्तव्यः प्राणैरपि धनैरपि ।
परोपकारजंपुण्यं न स्यात्क्रतुशतैरपि ॥

अर्थ—प्रत्येक विवेकी मनुष्य का यह कर्तव्य

है कि वह अपने प्राणों से और धन से किसी भी उपकार करने योग्य प्राणी का उपकार करे भूले नहीं क्योंकि परोपकार (दूसरे की भलाई) से उत्पन्न हुआ पुण्य सैंकड़ों यज्ञों के करने पर भी नहीं प्राप्त हो सकता।

इस नश्वर शरीर का तथा धन का कोई ठिकाना नहीं है कि यह कब तक रहेगा अगरचे इस नशनशील शरीर से दूसरे की भलाई हो सकती है तो इससे बढ़कर उत्तम कार्य और क्या हो सकता है। बड़े बड़े चक्रवर्तियों का शरीर भी स्थिर नहीं रहा तो हमारी तुम्हारी बात ही क्या है यही बात धन सम्पत्ति के विषय में भी विचार लेना चाहिये कि यह भी समय पर नष्ट भ्रष्ट हो जाने वाली चीज है अतः इसको परोपकार में खर्च कर सफल करना ही किसी भी बुद्धिमान की बुद्धिमानी का कार्य है।

सच्चा धन वही है जो किसी भी उत्तमोत्तम कार्य में व्यय (खर्च) किया जाता है। सच्चा दानी

भी वही हो सकता है जो अपनी गाढी कमाई को अपने हाथों से अपनी समझ से किसी भी पारमार्थिक कार्य को सुचारु रूप से चलाये रखने के हेतु दे देता है इस तरह का दानी होना भी महान् पुण्य के उदय का कार्य है जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से प्रगट है।

शतेषु जायतेशूरः सहस्रेषु चपण्डित ।
वक्ता दशसहस्रेषु दाता भवतिवा न वा ॥

अर्थ—हे बन्धुओ देखो सैंकड़ों मनुष्यों में कोई एक मनुष्य शूर होता है। हजारों मनुष्यों में कोई एक पंडित होता है। और दश हजार मनुष्यों में बड़ी ही कठिनता से कोई एक वक्ता मिलता है लेकिन दानी मनुष्य का मिलना तो बहुत ही दुर्लभ है अर्थात् विशेष पुण्य के प्रभाव से ही धन की प्राप्ति होती है और उस धन का दान करना तो सबसे जबर्दस्त पुण्य से हो सकता है। दानी पुरुष तो यही विचार करते हैं कि यह

धन जिसे हमने विशिष्ट पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त किया है त्रिकाल में भी हमारे साथ नहीं जा सकता यह यहीं का यहीं रह जायगा यदि हम इसे अपने साथ ले जाना चाहें तो हमारा यह परम कर्तव्य है कि हम इसे परोपकार के कार्य में दे दें। ऐसा करने से ही यह धन हमारे साथ जा सकता है, इसी में मनुष्य की मनुष्यता का परिचय प्राप्त होता है। बड़े बड़े नीतिकारों ने धन की दशाओं का वर्णन करते हुये लिखा है कि इस संसार में धन की तीन ही दशाएँ होती हैं।

दान भोगोनाशास्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
योनददातिन भुङ्क्ते तस्य तृतीयागतिर्भवति॥

हे आत्मन् तू विचार धन की तीन अवस्थाएँ होती हैं १ पहली दान २ दूसरी भोग ३ तीसरी नाश। जो धनी अपने धन को सत्पात्र आदि में नहीं खरचते और न भोगोपभोग में ही लगाते हैं उनका वह धन यों ही नाश को प्राप्त होता है।

अतः हे विचारशील तू अपने सद्विचार से ही अपनी गाढ़ी कमाई का सदुपयोग कर इसी में तेरी भलाई है ऐसा करने से ही तू भविष्य में भी धनवान होगा बिना धन के दुनियां में इस जीव की क्या २ दशा होती है देख —

पैसे बिन मात कहे पूत तो कपूत भयो
पैसे बिन भाई कहे मेरा दुखदाई है
पैसे बिन काका कहे कौन का भतीजा है
पैसे बिन यार मित्र मन ना मिलात है
पैसे बिन नारि कहे नकटा सों काम परयो
पैसे बिन सास कहे कौन को जमाई है
पैसे बिन संसार में मुर्दे को लकड़ी नहीं
आज तो संसार में एक पैसे की बढ़ाई है

जिन लोगों के पास पैसा होता है उन्हें अनायास ही अनेक गुण स्वयं आकर प्राप्त हो जाते हैं। यही बात नीतिकार बताते हैं—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति

जिसके पास धन है वह मनुष्य कुलवान न होते हुए भी कुलीन कहा जाता है मूर्ख होते हुए भी पंडित कहा जाता है। शास्त्र का जानकार कहा जाता है, गुणवान कहा जाता है वक्ता कहा जाता है। देखने योग्य भी माना जाता है। भले ही पूर्वोक्त गुणों का अंश भी इसमे न पाया जाता हो तो भी धन के प्रभाव से संसार में इसे इस प्रकार की मान्यताएँ प्राप्त होती हैं क्योंकि सभी उत्तमोत्तम गुण स्वभाव से सुवर्ण को प्राप्त करते हैं यही बात धनवान के विषय में जाननी चाहिये। आगे और सुनिये

धनैर्निष्कुलीनाः कुलीना भवन्ति ।
धनैरापदं मानवा निस्तरन्ति ॥

धनेभ्यः परो बन्धवोनास्तिलोके ।
धनान्यर्जयध्वं धनानि रक्षितम् ॥

हे जीव तू देख इस संसार में धन से क्या २ नहीं होता धन से अकुलीन भी कुलीन हो जाते हैं। धन से बड़ी बड़ी आपत्तियों से भी मनुष्य छुटकारा पा लेते हैं। धन से बढ़कर बन्धु इस लोक में दूसरा नहीं है इस कारण हरेक मनुष्य को धन का अर्जन करना जरूरी है वही सबसे बड़ा भारी रक्षक है। धन के समान दौर दौरा मचाने वाला राजा का मन्त्री (दीवान) भी नहीं होता जिसके हाथ में सारी राज्य सत्ता रहती है। धनवान पुरुष के यहां बड़े से बड़े लोग आकर बैठते हैं उसकी बड़ी इज्जत करते हैं इससे बढ़ कर और दुनियां में क्या कहा जा सकता है। यह सब का सब धन का ही प्रभाव है

सुख और दुख दोनों काल्पनिक हैं

यहां पर शिष्य श्री गुरु से प्रश्न करता है कि

हे गुरु संसार में जैसे दुख है वैसे सुख भी तो है। श्री गुरु कहते हैं हे भाई सन्सार सम्बन्धी सुख और दुःख दोनो भ्रान्त हैं निम्नलिखित श्लोक से यह बात अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है।

वासना मात्रमेवैतत्सुखं दुःखंच देहिनां।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि॥

अर्थात हे भाई इन देहधारियों को जो सुख और दुख होता है वह केवल कल्पना मात्र ही है। देखो जिन्हें लोक में सुख देने वाला माना जाता है ऐसे कमनीय कामिनी जन आदि के भोग भी आपत्ति (दुर्निवार शत्रु आदि के द्वारा किये गये उपद्रव) के समय में तथा ज्वर आदि व्याधियों के समय में प्राणियों को अति ही आकुलता पैदा करने वाले होते हैं यह आकुलता विषय वासना जन्य ही है इन्द्रिय जनित सुख और दुःख वासना मात्र ही हैं अस्वाभाविक हैं अतएव पर हैं।

ये सुख और दुःख उन्हीं के होते हैं जो देह को अपना मान रहे हैं लेकिन वस्तुतः देह अपनी नहीं है यदि अपनी होती तो इसका नाश कभी भी नहीं होता। परन्तु मृत्यु होने पर यह बात साफ तौर पर जाहिर हो जाती है कि शरीर अपना नहीं है अगर अपना होता तो यहाँ क्यों छूटता साथ ही में क्यों न रहता इससे यह ज्ञान प्राप्त करना कि शरीर से भिन्न आत्मा नामक एक स्वतंत्र पदार्थ है जो अन्य द्रव्यों से अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है इसी से मनुष्य की मनुष्यता सिद्ध होती है।

स्त्री और पुरुष की क्रिया विशेष को लोक में सुख कहा गया है लेकिन मन के दुखी होने पर वह भी दुःख रूप हो जाता है क्योंकि काम का नाम मनसिज या मनोज भी है जिसका अर्थ है मन में या मन से उत्पन्न होना है। अर्थात मन में जो काम की कामनाएँ अथवा क्रीडा करने की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं उनके अनुसार

ही यह कामी अपने शरीर से नाना प्रकार की क्रीड़ायें किया करता है लेकिन जिस समय इसके मन में किसी प्रकार की दुःख को पहुँ-चाने वाली चिन्ता आकर उपस्थित हो जाती है उस समय वह प्राणी उस चिन्ता के चक्र में पड़कर नाना तरह के उधेड़बुन किया करता है तब फिर इसकी वे काम क्रीड़ाएँ नहीं मालूम कहां कपूर की तरह विलीन हो जाती हैं। और भी इसलिये ग्रन्थकार क्या कहते हैं।

रम्यं हर्म्यं चन्दनं चन्द्रपादाः
वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः
नैते रम्याः क्षुत्पिपासार्दितानां
सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः

अर्थात्—रमणीय महल, चन्दन, चन्द्रमा की किरणें, वीणा और यौवनवती स्त्रियां ये सब भूख, प्यास से पीड़ित पुरुषों को अच्छे नहीं लगते। ठीक ही है क्योंकि सारे ठाट बाट जब

सेर भर चावल (अनाज) घर में उदर पूर्ति के लिये होता है तब अच्छे सुहावने मालूम होते हैं अन्यथा नहीं। यह सब भोगोपभोग की सामग्री की प्राप्ति धन के द्वारा ही होती है अतः संसार में धन का विशेष महत्त्व है। देखिये नीतिकार क्या कहते हैं।

वयोवृद्धास्तपोवृद्धा येच वृद्धाबहुश्रुताः।
सर्वे ते धनवृद्धानां द्वारे तिष्ठन्तिकिंकराः॥

अर्थात—हे जीव जरा विचार तो सही आज संसार में धन के समान बड़ा दूसरा कोई पदार्थ नहीं है कारण यह कलिकाल है इसमें कोई ऐसा जीव नहीं है जिसने इस इच्छारूपी डाकिनी को जीता हो। औरों की तो बात ही क्या है धनवानों के दरवाजे पर बड़े २ वयोवृद्ध (बूढ़े आदमी) तपोवृद्ध--महान तपस्वी और बहुश्रुत बड़े २ ज्ञानी भी मामूली नौकरों की तरह उपस्थित रहते हैं यह सब चाह रूपी दाह का फल है—

जो लोग घर द्वार स्त्री पुत्र माता पिता और बन्धुजनों को ही नहीं किन्तु बड़े २ राज्य को भी छोड़कर साधु हो जाते हैं लेकिन अन्तरंग में इच्छाओं का त्याग नहीं करते क्या वे सच्चे साधु कहे जा सकते हैं नहीं कभी नहीं। किसी समय का जिक्र है कि राजा शुभचन्द्र और भर्तृहरि सन्यासी हुए। दोनों भाई थे। शुभचन्द्र तो दिगम्बर साधु हुए और भर्तृहरि सन्यासी बने। दोनों ने राज्य वगैरह को सर्वथा छोड़ दिया था। एक दिन दोनों भाई चाँदनी रात मे बैठे २ ध्यान कर रहे थे इतने में ही एक रास्तागीर पान चबाता हुआ उधर से निकला। निकलते समय उसने मुँह से पान का उगाल वहां पर थूक दिया। कुछ समय के पश्चात् चन्द्रमा की चांदनी वहां पर पड़ी तो वह पान का उगाल ऐसा चमके जैसे कोई मणि ही चमक रही हो! सन्यासी राजा भर्तृहरि की निगाह भी उस पान के उगाल

पर जा गिरी। सन्यासी राजा भर्तृहरि ने विचार किया मालूम होता है कि कोई धनवान मनुष्य यहां से निकला होगा उसी को यह मणि गिर गयी होगा। उनकी इच्छा हुई कि हम इस मणि को उठालें। सन्यासी जी ज्योंही पास में जाकर उसे उठाने लगे तो वह तो पान का उगाल था रत्न तो था ही नहीं इससे उनका हाथ लाल सुर्खीले थूँक से भर गया सहसा छुटाने पर भी नहीं छूटा। सन्यासी भर्तृहरि की यह दशा (हालत) मुनि शुभचन्द्र जी ने देखी। उसी समय यह दोहा पढ़ा।

रत्नजड़ित मन्दिर तज्यो
तज्यो राणियां साथ।
धिक् धिक् मणि धोके गयो
पड्यो पीप में हाथ॥

इसलिये हे संसारी जीवो ! विचारो ऐसे २ महा पुरुषों की भी आशा इच्छा से निवृत्ति नहीं हुई तब छोटे छोटे मनुष्यों की इच्छा से निवृत्ति कैसे हो सकती है। देखिये आजकल जितने भी साधु और सन्यासी हैं वे सब कुछ न कुछ आडम्बर की आड़ लेकर मांगा ही करते हैं लेकिन क्या आप यह समझते हैं कि मांगकर खाने से और महात्मा कहलाने मात्र से किसी को कभी भी शांति मिली है या मिल सकती है नहीं कभी नहीं। इच्छाओं पर विजय प्राप्त किये बिना कोई भी महात्मा नहीं कहा जा सकता। वह तो एक प्रकार का मंगता भिखारी व ठगिया ही है। क्योंकि

अजाचीक ही धर्म है धर्मी जाचें नाहिं।
धर्मी बन जाचन लगे सो ठगिया जगमांहि।

प्रश्न—आपने ऐसा कैसे कह दिया कि भीख मांगने वाला ठगिया है जो ठगिया होता है

वह पापी है हमतो ऐसे २ महात्माओं को देखते हैं और जानते हैं जो ग्रीष्म काल में भी पंचाग्नि तप तपते हैं और १०८ धूनि तप करके ही भोजन करते हैं तो क्या वे तपस्वी भी इच्छाओं को जीतने वाले नहीं हैं और उनका तप भी व्यर्थ है क्या ?

उत्तर—हे भाई जो आपने यह कहा कि वे ५ धूनियां तथा १०८ धूनियां लगाकर कड़ाके की गर्मी में भी अविचल आसन माड़ कर ध्यान लगाए रहते हैं अतः उन्हें परम तपस्वी और जितेन्द्रिय मानने में क्या हानि है इस सम्बन्ध में हमारा कहना यह है कि यह आत्मा अपने आपको जैसा बनाना चाहे बना सकता है सबसे पहले हम आपको ५ धूनियों और १०८ धूनियों का स्वरूप समझाते हैं। ५ अंगीठियों को व १०८ अंगीठियों को लगाकर बैठ जाना इसका नाम तप नहीं है वह तो एक प्रकार का पुजने पुजाने का ढोंग है उसे तप कहना ही बड़ी

भारी भूल है। अब आप उन धूनियों का सच्चा स्वरूप सुनिये ! हे भाई जो आपका शरीर है उस शरीर में ५ इन्द्रियां हैं १ स्पर्शन इन्द्रिय (शरीर) २ रसना इन्द्रिय (जिह्वा) ३ घ्राण इंद्रिय (नासिका) ४ चक्षु इंद्रिय (आंख) ५ श्रोत्र इंद्रिय (कान) इन्हें ही ५ पांच इंद्रियां कहते हैं। इस जीव को ये इंद्रियां ही सदा से अपनी २ इच्छानुसार नचाती रहती है चाहरूपी दाह से इस जीव को जलाते रहना ही इन इंद्रियों का हमेशा का काम है।

इन पांचों इंद्रियों को (जो अपने अपने विषयों में इस जीव को निरन्तर लगा लगाकर संतप्त और दुखी किया करती हैं) वश में करना ही ५ पांच प्रकार की धूनियां हैं। इन्हीं का नाम पंचाग्नि तप है।

हे बन्धुओ ! ये इंद्रियां ही सदा इच्छानुसार दौड़ती रहती हैं। इनकी घुड़दौड़ से यह

जीव बड़ा आकुल व्याकुल रहता है इसीलिए बड़े बड़े आचार्य महात्माओं ने हम संसारी प्राणियों को उपदेश देते हुए कहा है।

"इच्छानिरोधस्तपः"

अर्थात् इंद्रियों को विषयों की ओर से रोकना उन्हें अपने वश (काबू) में करना ही सच्चा पंचाग्नि तप है। अग्नि जलवाकर शरीर को तपाना तप नहीं है। यह तो एक बहुरूपिया जैसा स्वांग ही है।

यह तो ५ धूनियों का असली स्वरूप कहा। अब हम १०८ धूनियों का सच्चा स्वरूप आपको बताते हैं प्रत्येक संसारी जीव को पूर्वोक्त इंद्रियों की विवशता में ही हर एक काम करना पड़ता है।

सब से पहले किसी कार्य को करने की इच्छा होती है। फिर उसे वचन में कहता है पश्चात् शरीर (काय) से उसे करता है। इन तीनों का समरंभ (सामग्री एकत्रित करने का विचार) समारंभ (सामग्री को एकत्रित

करना) आरम्भ (कार्य को प्रारम्भ करना) के साथ संबन्ध होने से ९ भेद हो जाते हैं इन ९ का भी कृत (स्वयं करता) कारित (दूसरों से कराना) अनुमोदन (मन से सराहना करना) के साथ संबन्ध होने से २७ भेद हो जाते हैं। इन २७ भेदों का क्रोध मान माया और लोभ इन चारों कषायों के साथ पृथक २ संबन्ध होने से कुल मिलाकर १०८ एक सौ आठ तरह से यह आत्मा इंद्रियों के विषयों की तरफ निरन्तर लगा रहता है या यों कहिए कि जिस तरह लुहार की धोकनी अग्नि को प्रज्वलित करती रहती है वैसे ही वैषयिक इच्छा रूपी धोकनी उत्तरोत्तर इच्छा रूपी अग्नि को आत्मा में प्रति समय प्रज्वलित करती रहती है जिससे यह आत्मा निरन्तर संतप्त होता रहता है बस इन इच्छाओं का सर्वथा निरोध (रोक) करना ही १०८ एक

सौ आठ प्रकार की धूनियों से किया जाने वाला तप है और ऐसा तप ही आत्मा के कल्याण का एक मात्र साधन है। अतः इंद्रियों के दमन किये बिना आत्मा का हित असंभव है। जो आत्महितेच्छु होंगे वे पूर्वोक्त प्रकार की धूनियों वाला तप कभी भी नहीं करेंगे क्योंकि वह तप तो शरीर के साथ ही आत्मा को भी संसार ताप से संतप्त करता है इसलिए हे भव्य जन ! संसार में इस जीव को कितने बार मनुष्य पर्याय की प्राप्ति हुई इसकी गणना करना हम अल्पज्ञों के ज्ञान से परे है सिवा सर्वज्ञ भगवान के दूसरा कोई भी जानने में समर्थ नहीं है। ऐसी उत्तम मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके भी इस जीव ने इच्छाओं का निरोध नहीं किया यदि किया होता तो आज यह संसार में भ्रमण करने का पात्र नहीं बना रहता अस्तु साधु होकर भी यदि यह इच्छाओं पर विजय प्राप्त नहीं करता तो ऐसे साधुपन

से इसका क्या कल्याण हो सकता है कुछ भी नहीं। साधु होकर भी जो अज्ञान पूर्वक आचरण करते हैं वे कभी भी सिद्ध नहीं हो सकते इस सम्बन्ध में एक कवि का निम्न प्रकार कहना है:—

कोई भया पय पान करे नित
कोई इक खावत अन्न अलोना
कोई इक वाद विवाद करें अति
कोई इक धारत है मुख मौना
कोई इक कष्ट सहे निशिवासर
कोई इक बैठ रहे इक ठौना
सुन्दर एक अज्ञान गये बिन
सिद्ध भये नहीं दीसत कोना

और भी सुनिये ?

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो,
पुनि भस्म रमाय के देह बिगारी।

मेघ सहे पुनि शीत सहे,
तन धूप समय में सहे दुख भारी।
भूख सही अरु प्यास सही,
पुनि रूख तले सब रात गुजारी।
शिव भणे सब छोड़न, व्यर्थ-
भया तपसी पर आश न मारी॥

इस तरह से आशा--इच्छा का नाश किये बिना क्या कभी अविनाशी सुख व शांति मिल सकती है? नहीं अतः हमें सब से पहले अपनी इच्छाओं पर रोक लगानी चाहिए तब ही हमारा कल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं।

इस कार्य को करने के लिए हमें किसी दूसरे की सहायता या मदद की जरूरत नहीं है खुद ही करने में समर्थ हैं। देखिये इस विषय में कवि क्या कहते हैं।

जाय अकेला जीव नरक में,
कभी पुण्य से जाय सुरग में।
राजा और धनेश अकेला,
दास दरिद्री सभी अकेला ॥

हे भाई यह जीव अकेला ही नरक में जाता है क्योंकि नरक में पहुंचाने वाले पाप कर्म इसी अकेले जीव ने किये। उनके फल इसे नरक में जाकर भोगने पड़ते हैं। तथा अच्छे परिणामों के प्रभाव से यह पुण्य कर्मों का उपार्जन करता है तो अकेला स्वर्ग में जाकर उसका उत्तम फल भोगता है। राजा भी यह अकेला ही होता है। धन कुबेर भी अकेला ही बनता है और अपने ही अज्ञान से किसी दूसरे का दास भी यह अकेला ही हो जाता है और यदि यह अपनी तमाम सांसारिक इच्छाओं को त्याग दे तो अकेला ही सिद्ध पद को पा लेता है।

इस तरह से जीव अपने कार्य में पूर्णतया स्वतन्त्र है किसी दूसरे के आधीन नहीं है।

सांसारिक संबंध

हे आत्मन् तेरे साथ इन तेरे कुटुम्बियों का जिन्हें तूने अपना मान रक्खा है अनादि से ही कैसा व्यवहार है सुन!

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य सम्वसन्ति नगे नगे।
स्व स्व कार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे॥

जैसे नाना दिशाओं और देशों से आकर पक्षी भिन्न भिन्न वृक्षों पर रात्रि में निवास करते हैं प्रातः काल में अपनी २ दिशाओं और अपने अपने देशों को चले जाते हैं कोई किसी का साथ नहीं देता वैसे ही इस संसार में रहते हुए कुटुम्बी जन भी अपने २ कर्म के उदय से यहां आकर जन्म लेते हैं और आयु के अन्त में अपने योग्य स्थान पर चले जाते हैं कोई भी किसी के साथ नहीं जाता। सब अपने २

आयु कर्म रूपी रात्रि में कुल रूपी वृक्ष पर आकर निवास करते हैं आयु कर्म रूपी रात्रि के बीत ने पर सब अपने २ ठिकाने पर चले जाते हैं जाते समय कोई भी कुटुम्बी माता पिता भाई बहिन स्त्री पुत्र पुत्री आदि कोई भी साथ नहीं देते सब यहां के यहां ही रह जाते है । लेकिन फिर भी यह मोही प्राणी मोह के वश से क्या २ समझता है सुनिये ;

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रमित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥

अर्थात् यह मोही—अज्ञानी जीव शरीर को व घर को व धन को व स्त्री को व पुत्र को व मित्र को व शत्रु को भी अपना मानता है जो प्रत्यक्ष रूप से भिन्न हैं भिन्न भिन्न स्वभाव रखते हैं जो त्रिकाल में भी अपने नहीं हो सकते। यह सब मोह की ही विडंबना है यही बात नीचे के सवैया में भी स्पष्ट होती है—

रे नर मूढ बता जगते,
पितु मातु सुता को तो संग जावे ।
पूत सपूत विभूति अटूट,
अटा सब साज यहीं रह जावे ॥
जानत देखत सांज सुबह,
षट खण्डपति चक्री नश जावें
तो फिर तेरी चलाई कहा शिव,
चेत तो चेत अमर पद पावे ॥

हे आत्मन तेरी तो इस प्रकार की अवस्था है यदि तू स्वयं कमर कसकर अपना कल्याण करने के वास्ते खड़ा नहीं होगा तो कैसे काम चलेगा फिर तेरी आत्मा कैसे सुख और शान्ति प्राप्त कर सकेगी देख संसार में रंच मात्र भी सुख नहीं है लेकिन फिर भी लोग कहते हैं हम तो बड़े सुखी हैं हमारा जीवन आनन्द-मय है हमारे सरीखा सुखी और आनंदित

रहने वाला शायद ही दूसरा कोई होगा परंतु यह सब भूल भुलैया में डालने वाली बातें हैं क्योंकि अगर च संसार में सुख होता आनन्द पाया जाता तो रामचन्द्रजी अपने गुरु वशिष्ठजी से ऐसा क्यों कहते--

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु च न मे मनः
शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनोयथा

अर्थात हे वशिष्ठ स्वामिन् मैं किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं रखता और न किसी भी पदार्थ में मेरा मन है मैं तो सिर्फ वह शांति चाहता हूँ जिसे भगवान जिनेन्द्र ने प्राप्त किया है शांति में रहना ही मेरा सच्चा स्वरूप है वह जग जाल में फँसे हुए प्राणियों को कैसे प्राप्त हो सकती है यही एक विचारणीय बात है जिसे यह संसारी बिलकुल भूला हुआ है विचारने के लिए इसे फुरसत ही नहीं है।

जिसे लोग अवतार मानकर पूजते हैं ध्याते हैं जब वे महाराज रामचन्द्रजी ही खुद

अपने मुख से कह रहे हैं कि मैं राम नहीं हूं अर्थात् ध्यान करने योग्य नहीं हूं मैं तो स्वयं शांति का इच्छुक हूँ तब फिर अन्य जघन्य पुरुषों की बातों को सुनकर कैसे कहा जा सकता या माना जा सकता है कि वे सुखी हैं आनन्दमय हैं। इसलिए हे जीव तूं तो चेत सावधान होजा और शीघ्र से शीघ्र ऐसा कार्य कर जिससे तू अमर-अविनाशी-पद सिद्ध पद को प्राप्त कर सके। यही तेरा असली रूप है।

घर गृहस्थी की तरफ भी तूं देख तो सही कि तेरे बाल बच्चे जिन्हें तूने अपना मान लिया है वे कितने स्वार्थी मतलबी हैं। जिस समय उनकी माता उन्हें गोद में से उतार कर जमीन पर बैठा देती हैं उसी वक्त वे जमीन पर बैठते ही चिल्लाना शुरु कर देते हैं फूट फूट कर रोने लगते हैं क्योंकि माता की गोद में उनका बड़ा आदर था गोद से नीचे उतरते ही उन्हें अपने अनादर का विचार मन में समागया।

इसलिए ही उन्होंने रोना और चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया। अतः हे जीव तू सोच कि जब जरा से बच्चे अपनी इज्जत का ख्याल रखते हैं तो तुम तो समझदार होशियार हो तुम्हें भी अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान होना चाहिए तुम जरा जरा सी जरूरत के पीछे इधर उधर भटकते फिरते हो इसमें तुम्हारी क्या इज्जत है जरा सच्चे दिल और दिमाग से विचारो। तुमने कभी भी अपने स्वरूप का और गौरव का ख्याल ही नहीं किया। तुम्हारा स्वरूप और गौरव भगवान परमात्मा से कम नहीं हैं इसी बात को अनेक महापुरुषों ने बड़े बड़े ग्रंथों में बताया है। दरअसल में है भी वैसा ही। इसलिये तो लोक में लोग कहा करते हैं कि—

"जो आत्मा सो परमात्मा"

इस बात को एक कवि ने नीचे मुआफिक कहा है।

आये एक ही देश तें उतरे एक ही घाट।
हवा लगी संसार की हो गये बाराबाट ॥ ॥
जब तुम आये जगत में जगत हंसा तुम रोय
अब ऐसी करनी करो फिर हांसी न होय

यह है हरेक संसारी जीव की दशा। यहां पर जिन को अवतार कहते हैं वे भी पर कर्मों से पीड़ित रहे और अब भी पीड़ित हो रहे हैं। देखो श्रीकृष्ण नारायण के साथ लोगों ने क्या किया। श्री कृष्ण नववें नारायण थे तीन खन्ड पृथ्वी के स्वामी थे। कहते हैं कि उनका जन्म जेल में हुआ था अत: जन्म के समय किये जाने वाले उत्सव बिलकुल ही नहीं हुए। वहां उत्सव मनाने वाले कोई भी नहीं थे और न कोई मृत्यु के समय शोक करने वाला था यही बात नीचे के छन्द की एक पंक्ति में कही गई है—

"मरा पर ना कोइ रोया, नउत्पत्ति मंगल चारी"

जरासिन्धु राजा ने युद्ध में श्रीकृष्ण को १७ सत्तराबार पराजित किया। इससे ही इनका नाम 'रणछोड' पड़ा यह सब वैष्णव पुराणों में विस्तार से वर्णित है। महाभारत में भी इसका बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है।

इससे हे बन्धुओ ! अब संसार के दुःखों से उन्मुक्त होने का प्रयत्न करो। प्रयास करने पर ही दुःखों से मुक्ति हो सकती है। सत्पुरुषों की संगति से सदाचारों से दुःखों की मुक्ति होती है जैसा कि लोक में प्रसिद्ध है।

"शठ सुधरें सत्संगति पाये—
पारस परस कुधातु सुहाए"

देखो दुर्जन लोग सज्जनों के संसर्ग से सुधर जाते हैं सज्जन हो जाते हैं। लोहा पारस पाषाण के संयोग से सुवर्ण हो जाता है लोहे के तुल्य आपको भी पारस पाषाण के समान यह मनुष्य पर्याय प्राप्त हुई है इस पर्याय में ऐसा प्रयत्न व उद्योग करो जिससे पूर्व के

पाप नाश को प्राप्त हो जायें और भविष्य के लिए पुण्य की प्राप्ति हो जाय। जिससे आप संसार में रहकर भी सुख और शांति से रह सके और निरंतर मोक्ष के लिए उपाय करते रहें। मुक्ति के मार्ग पर चलते रहें। तो मुक्ति अवश्य ही प्राप्त हो जायगी। यही मनुष्य पर्याय पाने की सफलता है। सुनिए—

सार नर देह सब कारज को जोग येह।
यह तो विख्यात बात वेदन में गाई है॥
तामें तरुणाई धर्म सेवन को समय भाई।
सेये तब विषय जैसे माखी मधु लाई है॥

हे भाई यह युवावस्था तो धर्म सेवन के लिए ही है क्योंकि यही एक ऐसी अवस्था है जिसमें सब तरह से धर्माचरण किया जा सकता है लेकिन यह बड़े खेद की बात है कि यह मनुष्य अपने सर्वश्रेष्ठ युवापन को सबसे

निकृष्ट विषय सेवन में व्यतीत कर इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय को व्यर्थ ही खो देता है और भी सुनिये—

चाय लगी की बलाय लगी।
मद मत्तभयो नर भूलत यों ही॥
वृद्ध भये न भजे भगवान्।
विषय विष खात अघात न क्यों ही॥
शीस भयो बगुला सम सेत।
रह्यो उर अन्तर स्याम अजों ही॥
मानुस भव मुक्ताफल हार।
गंवार तगा हित तोरत यों ही॥

अतः हे संसारी प्राणियों! ऐसे उत्तम मनुष्य भव को प्राप्त कर तुम किसी ऐसे उत्तम अनुपम कार्य को करो जिससे फिर इस भव वन में इस जीव को भटकना ही न पड़े इसी में मानवतन की सफलता है। यदि इसे विषय सेवन में ही गमा

दोगे तो फिर तुम्हारा इस मनुष्य तन को प्राप्त करना बहुत ही दुर्लभ है क्योंकि महान् पुण्य कर्म के उदय से ही यह प्राप्त होता है।

महान् पुण्य के पुञ्ज से यह शुभ मानव शरीर की प्राप्ति हुई है। तो भी अरे इस भवचक्र का एक चक्र दूर नहीं हुआ। इस मनुष्य शरीर से ही संसार के दुखों का अन्त हो सकता है और चिरस्थायी मोक्ष सुख की प्राप्ति भी इसी मानव तन का अन्तिम एवं अनुपम कार्य है ऐसा जरा तो ध्यान में धारण करो। अहो क्षण क्षण में असीम दुःख को देने वाले इस भयंकर भव सागर में तुम क्यों लीन हो रहे हो।

यदि तुम्हारी लक्ष्मी और प्रतिष्ठा बढ़ भी गई तो क्या हुआ। क्या तुम संपत्ति की वृद्धि और कुटुम्ब परिवार की विशालता को ही अपनी वृद्धि व विशालता मानते हो। हरगिज

ऐसा मत मानो। क्योंकि इनकी वृद्धि से मनुष्य का इस संसार में उलझना ही अधिकतर सम्भव है। इससे तो मनुष्य कभी भी संसार से सुलझ नहीं सकता। अतः निर्वाध सुख तथा अननुभूत आनन्द की प्राप्ति जैसे बने वैसे करो।

आत्मा की अनन्त दिव्य शक्ति जिन कर्म जंजीरों से जकड़ी हुई है उन कर्म जंजीरों को छिन्न भिन्न कर के ही इस मानव तन को सफल करो। पर वस्तु से आत्मा को सर्वथा पृथक् मानो। आत्मा का पर पदार्थ से किसी प्रकार का नाता नहीं है। और न हो सकता है। ऐसा ही निरन्तर मन में ध्यान करो। पर के व्यामोह से ही यह जीव दुखी हो रहा है अन्य कोई भी कारण दुःख का नहीं है। मैं कौन हूं। कहां से आया हूं। मेरा सच्चा (असली) स्वरूप क्या है। यह संसार सम्बन्ध कैसे किस कारण से हुआ। यह बनाये रखने योग्य है या छोड़ने

योग्य है। इत्यादि बातों का विवेक पूर्वक शांत भावों से विचार किया जाय तो आत्मज्ञान और सब तत्व सिद्धान्त अनुभव में आ जायगा।

अगर ऐसा विचार नहीं करोगे तो तुम पीछे पछताओगे। जब तुम रोवोगे तब तुम्हारी कौन सुध लेगा। अतः विषयों में मस्त मत रहो। जरा ख्याल तो करो। कवि क्या कहता है —

वे दिन क्यों न विचारत चेतन,
मात की कूँख में आय बसे हो।
ऊरध पांव टगे निशिवासर,
रंचक स्वासनि को तरसे हो॥
आयु संयोग बचे कहुं जीवित,
लोकन की तब दृष्टि परे हो।
आजहु ये धन के मद में तुम,
भूल गये कितनें निकसे हो॥

हे आत्मन् इस तरह से तुम अपने जन्म की व्यथा मे पूर्णरूप से अनुभूत हो। परिचित हो। तो भी तुम इस नश्वर धन के मद में चूर हो रहे हो। यह धन क्या कभी भी किसी के स्थिर रहा है, जिसके पीछे तुम सब धर्म कर्म छोड़ स्वच्छन्द बन रहे हो। जब तुम धर्म से ही विमुख रहोगे तो तुम्हारा यह सारा धन तुम्हारे पास कैसे रह सकता है जब तक पूर्व का पुण्य तुम्हारे पास है तब तक तुम भले ही मौज उड़ालो पुण्य क्षीण होते ही तुम्हारी भी वही दशा होगी जो आज तुम दूसरे पुण्य हीनों की देख रहे हो। एक कवि कहता है—

"जब लो तेरे पुण्य का बीता नहीं करार,
तबलो तेरे माफ हैं औगुण करो हजार"

अर्थात—हे प्राणियो जब तक इस प्राणी के पास पुण्य का पवित्र प्रवाह बहता रहता है तब तक ही इस के हजारों अवगुण भी अवगुण

के रूप में नहीं के बराबर माने जाते हैं। लेकिन जब पुण्य कपूर की तरह विलीन हो जाता है तब वे सारे अवगुण अवगुण के रूप में एक ही साथ फल देने लग जाते हैं। तब इसकी बैचेनी का कोई ठिकाना ही नहीं रहता उस समय तो यह बड़ा आकुल व्याकुल हो अपनी अमूल्य जीवन की घड़ियों को यों ही रोते रोते व्यतीत कर देता है। इस तरह से इसका भविष्य बहुत ही अन्धकारमय हो जाता है। अतः प्रत्येक मानव प्राणी का यह परम ! कर्तव्य है कि वह पुण्योदय से प्राप्त हुई लक्ष्मी के मद से उन्मत्त हो यद्वा तद्वा प्रवृत्ति न करे। इसी में इस मानव प्राणी का हित निहित है।

प्रश्न—आपने ऊपर धर्माधारण का उपदेश तो खूब दिया। परन्तु यह तो वताया ही नहीं कि धर्म क्या चीज है। उसका पालन कैसे किया जाता है। कौन कौन उसे पालन कर

सकते हैं। आदि बातों के बताने और सम-
झाने पर ही यह प्राणी यथा योग्य रीति से
यथाशक्ति उसे पालन करने की ओर प्रवृत्त
हो सकता है। बिना समझे बिना जाने कोई
भी किसी भी उत्तम कार्य को करने में तत्पर
और अग्रसर नहीं होता। अतः आप सबसे
प्रथम धर्म का सच्चा स्वरूप समझाइये।

उत्तर—तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है।
अब हम तुम्हें धर्म का स्वरूप और उसके
भेद-प्रभेद बताते और समझाते हैं। तुम ध्यान
से सुनो। और उसे चित्त में धारण करो।

जो इस जीव को सन्सार के दुःखों से
उन्मुक्त (छुड़ाकर) कर मुक्ति के सुख का पात्र
बना सकता है। वही धर्म है। इसी बात को
भगवान समंतभद्र स्वामी ने निम्न लिखित पदों
से अभिव्यक्त (बिलकुल स्पष्ट) किया है।

"संसार दुःखतः सत्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे"

ऐसा धर्म रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र) रूप ही है। सच्ची आत्मश्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है। सच्चे आत्मज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है। सच्चे आत्मस्वरूप का आचरण करना इसका नाम सम्यकचारित्र है।

यह धर्म दो प्रकार का है १ अन्तरंग २ बहिरंग जैसे हाथी के दाँत दिखाने के और और खाने के और ही होते हैं। वैसे ही जो धर्म व्यवहार में जन साधारण की दृष्टि गोचर होता है। उसे बहिरंग धर्म कहते हैं। और जो सिर्फ आत्म भावना पर ही अवलम्बित रहता है। उसे अन्तरंग धर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो दूसरों की देखा देखी या समझी से उत्तम कार्य किये जाते हैं। वे सब व्यवहार धर्म में शुमार है। लेकिन उनसे आत्म साधना कुछ भी नहीं होती। आत्म साधना तो अन्तरंग आत्म धर्म से ही होती है। उसी का यहां पर

कथन किया जाता है। ऐसे धर्म के स्वरूप को समझने और समझाने के लिये सबसे पहले इस कलिकाल में धर्म ग्रन्थों का पढ़ना पढ़ाना भी धर्म के असली स्वरूप को समझने का एक मात्र साधन है। धर्म ग्रन्थों के पढ़े बिना यह कैसे मालूम हो सकता है कि धर्म क्या है। गृहस्थों का क्या धर्म है। और मुनियों का क्या धर्म है। अतः धर्म ग्रन्थों का सबसे पहले पढ़ना जरूरी है। उनके पढने से तुम्हें यह भी मालूम हो जायगा कि गृहस्थ धर्म के पालन करने का फल (नतीजा) क्या होता है और मुनि धर्म के आराधन करने का फल क्या है। जब तुम को यह सब भलीभांति मालूम हो जायगा तब तुम स्वयं (खुद) ही उन्मार्ग को छोड़कर सन्मार्ग पर बिना किसी के कहे ही धर्म समझ कर आरूढ़ हो जाओगे। साथ ही व्यवहार धर्म के पालन करने में भी जो कुछ भी तुम्हारी कमी होगी वह भी तुम्हारी समझ में खुद ही आ

जायगी तब तुम्हें यह शीघ्रातिशीघ्र मालूम हो जायगा कि यह सब धर्म ग्रन्थों के पढ़ने एवं पढ़ाने का ही सुफल है। मैं क्या चाहता हूं। दूसरों से अपने प्रति कैसा व्यवहार मुझे रुचिकर है। वैसा व्यवहार मुझे भी दूसरों के प्रति करना चाहिये। इस प्रकार की भावना का प्रादुर्भाव स्वाध्याय से ही संभव है। क्योंकि शास्त्रों में पद पद पर यह प्रतिपादन मिलता है कि जैसी तुम्हारी आत्मा है वैसी ही दूसरी आत्माएँ हैं। जिस प्रकार तुम दुख से डरते हो और सुख को चाहते हो। तुम नहीं चाहते कि कोई मुझे मारे पीटे, गाली-गलौज करे। वैसे ही दूसरे लोग भी यही चाहते हैं कि कोई भी मुझे गाली न दे मेरा अनादर अपमान न करे। बल्कि मुझे चाहे मेरी इज्जत करे मुझे ऊँचा समझे आदि यही बात शास्त्र कारों ने शास्त्र में लिखी है। सुनिये एक श्लोक में तुम्हें सुनाता हूँ—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाँ न समाचरेत् ॥

अर्थात धर्म के सार को सुनो ! तथा सुन कर उसे धारण करो ! उसका निश्चय करो कि जो बातें जो व्यवहार तुम्हें दूसरों के बुरे मालूम पड़ते हैं जिन्हें तुम बिलकुल ही नहीं देखना चाहते हो । तुम्हें तुम भी दूसरों के साथ कभी भी नहीं करो ! क्योंकि तुम्हारे ही समान सब संसारी जीवों की भी इच्छाएँ बनी हुई हैं ।

प्रश्न—तो फिर दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए उसका भी तो कुछ स्पष्टीकरण (खुलासा) होना चाहिये ? किसी भी कार्य को करने के पूर्व उसकी व्यावहारिकता का ज्ञान लेना अत्यावश्यक है नहीं तो वह कार्य जैसा किया जाना चाहिये वैसा नहीं किया जा सकता ?

उत्तर—तुम्हारा प्रश्न बिलकुल ठीक है नीतिकारों ने निम्नलिखित चार कार्यों को व्यवहार सहित करने की दुर्लभता का प्रतिपादन कितने सुन्दर ढंग से किया है। सुनो—

दानं प्रियवाक्सहितं,
ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितंशौर्यम्।
वित्तं त्यागसमेतं,
दुर्लभमेतच्चतुष्टयम्भद्रम्॥

अर्थ—हे बन्धुओ संसार में बहुधा देखा जाता है कि जो लोग दान करते हैं। वे दान करते समय दान के व्यवहार से या तो अपरिचित रहते हैं। या फिर उस व्यवहार को उपयोग में नहीं लाते। नतीजा यह होता कि वे जो कुछ भी दान देते हैं। वह उन्हे यश का दाता न होकर प्रत्युत अपयश का कारण हो जाता है। अतः दान देते समय जिसको

वह दिया जा रहा है। उसके साथ प्रिय वचनों का प्रयोग (व्यवहार) होने से वह यश और प्रशंसा का कारण हो जाता है। यह दान करते समय सद्व्यवहार का सुफल है।

ज्ञान का गर्व नहीं करना अर्थात जो ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुआ है। उसका व्यवहार अहंकार पूर्ण नहीं होना चाहिये। क्योंकि ज्ञान का अभिमान पूर्वक किया जाने वाला व्यवहार लोक में अप्रतिष्ठा का कारण बन जाता है। लोग ऐसे ज्ञानी को अभिमानी अहंकारी घमण्डी आदि शब्दों से पुकारते हैं इस तरह वह लोक में अनादर का पात्र बन जाता है। अतः ज्ञानी को कोमल नर्म प्रशान्त बन कर अपने ज्ञान का व्यवहार (उपयोग) करना चाहिये। ऐसा करने से उस ज्ञानी की इस लोक में बड़ी इज्जत होती है। लोग उसे बड़े आदर और अदब के साथ

मानते और पूजते हैं। यह सब उत्तम व्यवहार का ही फल है।

शूरता का व्यवहार क्षमा-सहनशीलता सहित होना चाहिये। अर्थात् जो शूर वीर हैं। उनका यह परम कर्तव्य है कि वे अपनी शूरता का उपयोग अन्यायी अत्याचारी उद्दण्ड पर पीड़ाकारी दुष्ट पुरुषों के द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों के निराकरण (दूर) करने में ही किया करें। यदि कदाचित् किसी निर्बल अज्ञानी के द्वारा उनका अपमान या अनादर भी हो जाय। तो वे उसके साथ क्षमा सहिष्णुता (सहनशीलता) का ही व्यवहार करें। ऐसा करने से वे उन अपमान तथा अनादर करने वाले दुर्बल पुरुषों के द्वारा स्वयमेव देवता सरीखे पूजे जायँगे। यह निस्संदेह है। क्योंकि समर्थ बलशाली शूरवीर का क्षमासहित व्यवहार ऐसी ही अनुपम प्रतिष्ठा का कारण होता है।

धन का व्यवहार त्याग (दान) सहित होना चाहिये। अर्थात् पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त हुए धन को यदि पुण्य कार्यों में ही लगाया जायगा तो वह पुण्य का ही कारण होगा। नतीजा यह होगा वह धनवान अपने धन के सद्व्यवहार से निरन्तर सुखी रहेगा। क्योंकि पुण्य की सन्तति-परम्परा निर्बाध-बाधारहित हो तो यह मनुष्य संसार में सांसारिक सुखों का अनुभोक्ता-अनुभव करने वाला होता है।

इस तरह दान, ज्ञान, शूरता तथा धन का व्यवहार करना भी धर्म है। क्योंकि इनका योग्यता के अनुसार उचित व्यवहार करने से स्वपर कल्याण अवश्यम्भावी है। जहाँ पर निज का और दूसरों का हित-निहित निश्चित है वहां पर धर्म अवश्य ही है।

दान की महिमा का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं।

दानेनभूतानिवशीभवन्ति
दानेनवैराण्यपियांतिनाशम् ।
परोपिबन्धुत्वमुपैतिदानै
र्दानंहि सर्वव्यसनानिहन्ति ॥

अर्थात दान से संसार में प्राणी अपने आप वश में हो जाते हैं और दान से ही जन्म जन्मान्तर का वैर नष्ट हो जाता है। दान के प्रभाव से पर जन भी स्वजन-बन्धु हो जाते हैं। और तो हम क्या कहें दान ही एक ऐसा धर्म है जिसके प्रभाव से सारे व्यसन अवगुण नाश को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—दान देने वाले की कीर्ति को सुनकर हजारों लोग बिना बुलाये ही दानी के दरवाजे पर दान लेने के वास्ते पंक्तिबद्ध (लाइन लगाकर) खड़े रहते हैं। यही प्राणियों का वश होना है।

जिस जीव से इस जीव का अनेक जन्मों का बैर चला आ रहा हो यदि दैव योग से इन दोनों में कोई एक विशेष पुण्य के प्रभाव से लक्ष्मी का अधिपति हो जाय और दूसरा अपने किये हुए पाप के उदय से निर्धन दुखी हो जाय और फिर इन दोनों में एक देने वाला दूसरा लेने वाला हो तो इनका वह जन्म जन्मान्तर का बैर दान के द्वारा सहज में ही दूर हो जाय यही बैर का नाश है।

जिनकी आवश्यकताओं की पूर्ति धन आदि के दान से कर दी जाती है। वे अनायास ही इस के बन्धु हो जाते हैं। इसके सुख और दुःख में सहयोग तथा सहानुभूति का प्रदर्शन करते हैं। इसी का नाम है पर जनों का स्वजन बन्धु बन जाना। दान से बड़े २ प्रतिष्ठित सत्ताधारी प्रभावकारी लोगों के साथ सम्पर्क संसर्ग हो जाता है। ऐसा होने से यह उनके

व्यवहारों-आचरणों से प्रभावित होकर स्वयमेव ही अपने व्यसनों को छोड़ देता है। उन्हें जलाञ्जलि दे देता है। इसी का नाम दान से व्यसनों का नाश है। यह सब दान धर्म के प्रभाव का फल है। अतः धर्म है। क्योंकि व्यसनों के सेवन से यह जीव बड़ा दुखी हो जाता है। इसके दुखों का कोई ठिकाना ही नहीं रहता। ऐसे महा दुःखदायी व्यसनों का नाश जिसमे होता है वह धर्म नहीं है तो क्या है!

इस प्रकार विचार कर हे भाई धर्म के प्रभाव से इस जीव को इसी पर्याय में कितना बड़ा भारी लाभ होता है। जरा से ही दान रूप धर्म के धारण करने से जब बड़े २ महा कष्टदायी पाप नष्ट हो जाते हैं। जिन महा पुरुषों से मिलना बड़ा मुश्किल का काम है। वे बड़े २ आदमी अपने आप ही मिलने और प्रेम करने लग जाते हैं। तो इससे बढ़कर और

क्या लाभ हो सकता है यह है जरा से दान धर्म का सुफल।

आचार्यों ने इसी दान धर्म का साक्षात फल अनन्त सुख की प्राप्ति बताया है। अतः प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अनन्त सुख को देने वाले इस त्याग धर्म का परिपालन और अनुशील करें।

लौकिक धर्म

श्रीमान् वैष्णव सम्प्रदाय में ऐसा उल्लेख है कि—

"अहरहः सन्ध्यामुपासीत।"

'नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया॥'

अर्थात सन्ध्यावन्दन, प्राणायाम तर्पण, प्रोक्षण, आचमन, द्वादशांग स्पर्शन, को पापों को दूर करने की इच्छा से प्रतिदिन करो। नहीं करोगे तो पाप अवश्य लगेगा। क्योंकि जहां कर्त्तव्य के पारिपालन से यह च्युत हुआ कि पाप

का भागी बना । इससे यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि कर्तव्य का पालन करने से मनुष्य पापों से बचा रहता है। जब कि कर्त्तव्य कार्य को नहीं करने से पापों मे लिप्त हुए बिना नहीं रह सकता इसी बात को नीचे के श्लोकार्द्ध से पुष्ट किया जाता है—

"अकुर्वनविहितं कर्म प्रत्यवायेनलिप्यते"

अर्थात्—कर्मकाण्ड विहित कर्तव्यकर्म को जो नहीं करता वह पापों से लिप्त होता है। लोक में प्रायः सर्वत्र देखा जाता है कि माता पिता अपने बालक बालिकाओं का पालन पोषण करते । उन्हें धार्मिक एवं लौकिक शिक्षा से शिक्षित करते । व्यापार आदि में उन्हें निपुण बनाते गृहस्थी के कार्य भार को वहन करने योग्य बनाते । योग्य अवस्था होने पर उनका विवाह आदि करते यह सब कर्तव्य का पालन है । ऐसा करने मे माता पिता पापों से

बचे रहते हैं। अन्यथा अशिक्षित अयोग्य कुलाचार से शून्य अविवाहित व्यापार और गृह कार्य में अकुशल सन्तान से घोर पाप होने की संभावना रहती है। जिसका फल माता पिता को भी भोगना पड़ता है।

अतः जो माता पिता सब तरह से अपने कर्त्तव्य में आरूढ़ रहते हैं, वे सब इस लोक में भी आदर सत्कार और यश को प्राप्त करते हैं और परलोक में भी सुख के पात्र होते हैं। यहां पर राजकीय नियमों का पालन करना भी परम कर्त्तव्य है इनका पालन करने से बड़े २ सुयोग्य पुरुषों को राज्य से बड़ी २ प्रतिष्ठा-कारक पदवियां मिला करतीं हैं। जिनसे इनका यश भी दुनियां में फैलता और आदर भी खूब होता है।

गवर्न्मेन्ट, म्युनिसिपालटी, और पुलिस के कायदे कानूनों का पालन करना बहुत ही जरूरी

है। इन कानूनों के पालन करने से कभी कोई राजकीय उपद्रव का सामना नहीं होता। प्रत्युत किन्हीं २ सज्जनों को पंडितों को श्रीमानों को तथा प्रजा वर्ग में भी किन्हीं २ सुयोग्य पुरुषों को रायबहादुर, सी. आई ई. ओ बी ई, सरनाईट, तर्क पञ्चानन, पूज्यपाद, महामहोपाध्याय, वादीभासिंह, रायसाहिब, आदि पदवियां भी दी जाती हैं। जिनसे इनकी बड़ी इज्जत होती है। लोग इन्हें बड़ी आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह है राजनीति के कर्तव्यों के पालन करने का सुफल।

जो लोग राजनियमों का पालन नहीं करते वे राजकीय दण्डों से दण्डित होते हैं। इसी तरह से जातीय नियमों का पालन करना भी कर्तव्य धर्म है। जो लोग जातीय पंचायती नियमों का पालन करते हैं वे लोग जातीय पंचायतों द्वारा जातिशिरोमणि, आदि विविध उपाधियों से विभूषित किये जाते हैं। समाज

उनका अच्छा आदर सत्कार एवं मान करती हैं। इतना ही नहीं समाज ऐसे प्रतिष्ठित पुरुषों से अपना बड़ा गौरव समझती है। और मानती है कि ऐसे प्रसिद्ध पुरुषों से समाज उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त करती हुई इतर समाजों में अपना एक प्रधान स्थान पा लेती है। यह लौकिक धर्म का ही प्रभाव है अतः ऐसे लौकिक धर्म को धारण करना भी अत्यावश्यक है।

—अलौकिक धर्म

जो धर्म आत्मा को आस्रव और बंधतत्त्व से उन्मुक्त कर संवर और निर्जरा तत्त्व तक पहुंचाकर मोक्ष तत्त्व पर्यंत पहुंचा देता है। वस्तुतः वही धर्म अलौकिक धर्म कहा जाता है। ऐसे धर्म को धारण करना प्रत्येक मुमुक्षु प्राणी का आद्य कर्तव्य है। यही आत्मा का परम धन है। ऐसे धर्म को प्राप्त करने के लिए किसी धर्माभिलाषी को इधर उधर भटकने

की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह आत्मा की ही चीज है आत्मा में ही आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए मिलेगी । यह संसार दशा तो इस आत्मा का स्वांग है। निम्नलिखित छन्द से यह बात साफ तौर से जाहिर है ।

पञ्चम काल तो काल सही,
पर पञ्चम काल न जीव सहारो ।
अवसर पाय जगो जब ज्ञान तो,
जीव अनादि अनन्त विचारो ॥
पर मोह मिथ्यात्व उदय नहीं जानत,
आत्म स्वरूप निजानंद भारो ।
मैं चैतन्य सर्वज्ञ बराबर,
हो रह्यो है का स्वांग हमारो ॥

अतः हे भाई यह संसारी आत्माओं का जीव शरीर में रहते हुए भीपरमात्मा के समान है परन्तु आशा रूपी रस्सी से बन्ध रहा है

जैसे एक लड़का अपने सतखन्डे महल के ऊपर चढ़कर १०००० दस हजार हाथ की लम्बी रस्सी (डोरी) को बांधकर एक पतंग को उड़ाता है तो वह पतंग हजारों हाथ ऊँची चढ़ती हुई पतंग को जरा हिला देने से गोते खाने लगती है इसी प्रकार शरीर में रहने वाला आशावान जीव परमात्मा के समान होता हुआ भी संसार में दर २ का भिखारी बन रहा है जगह २ मांगता फिरता है आशा के कारण ही पतित हो रहा है। इस आशा पिशाचिनी के जाल में फंसकर ही यह जीव नाना तरह की आपदाओं और विपदाओं को भोग रहा है। इसी विषय में एक कवि का क्या कहना है सुनिए।

रामचन्द्र मृग लोभ हारे मिया,
मिया लोभ हारे लंकेश।
राज लोभ दुर्योधन हारे,
धन लोभ सुभूमि चक्रेश॥

द्रव्य लोभ नृप नन्दराय अरु,
वेश्या लोभ चारु दत्त सेठ ।
पाण्डव द्यूत देशाटन हारे,
धातु लोभ हारे मातेस ॥

देखो रामचन्द्रजी सरीखे बड़े २ महापुरुष भी आशा के वश हो कैसी कैसी यातनाओं को सहते फिरे । अब तो विचारो कि तुम्हारी इनकी सामने क्या गिनती है तुम्हारी क्या दशा होगी अतः हे आत्म हितैषियों यदि वस्तुतः तुम आत्म कल्याण के इच्छुक हो तो आत्म स्वरूप का विचार करो ।

आत्म स्वरूप में लीन होने का प्रयत्न करो जिससे सुख और शांति की प्राप्ति तुम्हें हो । जब संसार के दुःखों ने रामचन्द्र, रावण, दुर्योधन, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन जैसे महापुरुषों का पीछा नहीं छोड़ा तब तुम्हें ये दुःख कैसे छोड़ सकते हैं और तुम तो वर्तमान

में भी प्रत्यक्ष रूप से दुःख पा रहे हो फिर भी इनसे बचने का दूर होने का प्रयत्न नहीं करोगे तो मिट्टी में मिल जाओगे । देखो यह तुम्हारा शरीर जिसके ऊपर तुम्हारा बड़ा अभिमान है जिसे देखकर तुम आनन्द से फूले नहीं समाते जिसके रूप और बल पर तुम अचल विश्वास करते हो वह अपनी बाल्य अवस्था को छोड़ चुका और इस युवावस्था में आया है जिसमें सौन्दर्य की चरम सीमा बल की पराकाष्ठा पाई जाती है यह युवावस्था भी छूट जायगी और वृद्धावस्था अपना आधिपत्य जमा लेगी। इस वृद्धावस्था में तमाम इंद्रियां शिथिल हो जायगी तब तेरी ऐसी दशा होगी जैसी एक अधमरे मनुष्य की हुआ करती है तब तेरे दुःखों का कोई ठिकाना ही नहीं रहेगा । जिन बन्धुजनों के पीछे तूने नाना तरह के पापों का अर्जन किया है यदि वे भी तेरा साथ नहीं देंगे तो तेरे दुखों

का कोई पार ही नहीं रहेगा । और यदि कदाचित् पाप कर्म के उदय से प्राप्त हुए दुखों को भोगते २ मरेगा तो नरक में जायगा जहां तेरे दुखों का एक जिह्वा से तो क्या करोड़ों जिह्वाओं से भी वर्णन नहीं हो सकता ऐसे दुख तुझे नरक में सागरों पर्यंत भोगना पड़ेंगे अतः हे आत्मन् अब तो तुम शरीर आदि के चक्कर में न पड़कर आत्म हित की ओर अग्रसर हो "शुभस्य शीघ्रम्" (अच्छा कार्य जल्दी करो) का सिद्धांत सामने रखो क्योंकि किसी कवि का कहना है कि

तू कुछ और विचारत है नर
तेरो विचार धरयो ही रहेगो
कोटि उपाय करे धन के हित
दान दिये उतनो ही मिलेगो
भोर के मांज घड़ी पलमांहि

आय अचान यमराज गहेगो
राम भज्यो न कियो कछु सुकृत
फिर पीछे पछतावो करेगो ॥१॥

अतः हे जीव जबतक वृद्धावस्था प्राप्त नहीं हुई उसके पहले जो तू दान, भगवान् का भजन आदि पुण्य कार्य करना चाहे सो करले नहीं तो पीछे तुझे पछताना ही पड़ेगा। कारण कि जब इंद्रियां बिलकुल ढीली पड़जाती हैं तब वे बेकार हो जाती हैं इधर संसार के प्रपंच की लालसाएं उत्तरोत्तर बढ़ने लगती हैं नतीजा यह होता है कि यह स्वयं ही अपने आप अपने मुख से कहने लगता है अब तो मर जाता तो अच्छा होता क्योंकि अब ये पीडाएं मुझसे बिलकुल भी नहीं भोगी जातीं कहां तक इस शरीर को घसीटता फिरूं। परन्तु जब मरने का मौका आता है तब वहां से भागने का मौका ढूंढने लगता है ऐसा

वृद्धापन तुम्हारे भी आवेगा अगरचे उसके आने के पहले ही मृत्यु हो जाय तो बात अलग है। यह तो निश्चित ठीक ही है। सुनिये

देखहु जोर जराभट को
जमराज महीपति की अगवानी
उज्जवल केश निशान धरें
वहु रोगन की संग फौज पलानी
काय पुरी तज भाज चल्यो
जिहिं आवत जोवन भूप गुमानी
लूट लई नगरी सगरी दिन
दोय में खोय है नाम निशानी

इसलिए हे सुखेच्छु प्राणियो अब आज तक जो गलती हुई सो हुई किन्तु अब स्वार्थ के ऊपर ही पक्का मजबूत खयाल करो जिससे परमात्मा के तुल्य यह आत्मा अब कभी भी संसार में जन्म मरण के दुःख न उठावे। यही

प्रत्येक आत्मा का कर्तव्य है कि वह सब से पहले स्वार्थ की सिद्धि करे पश्चात परार्थ का साधन क्योंकि बिना स्वार्थ सिद्ध किये परार्थ की सिद्धि त्रिकाल में भी सम्भव नहीं हो सकती। जो लोग अपना असली मतलब बनाने और दूसरों के मतलब बनाने में ही अपनी सारी जिंदगी लगा देते हैं ऐसे लोगों के मरने के पश्चात परार्थ का नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है। हां जो विवेकी पुरुष-सर्व प्रथम अपनी ही आत्म साधना में संलग्न रहकर निर्बाध रूप से उसे सिद्ध कर लेते हैं ऐसे महात्मा संसार की सब प्रकार की बाधाओं से छुटकारा पाकर अनन्त काल तक अनन्त आत्माओं के असली प्रयोजन को सिद्ध करने कराने में परिपूर्ण रूप से समर्थ होते हैं। अतः प्रत्येक आत्म हितैषी का यह परम धर्म है कि वह स्वार्थ साधना की ओर शीघ्र से शीघ्र अग्रसर हो। यही बात नीचे के दोहा से सर्वथा स्पष्ट हो जाती है।

दोहा

माया सगी न मन सगो
सगो नहीं परिवार
सद्गुरु कहे या जीव को
सगो है धर्म विचार

इसलिये धर्म साधना ही सर्वोपरि है। हां धर्म साधने से पूर्व अपने आत्म स्वभाव को जानना बहुत जरूरी है। आत्म स्वरूप को पहचाने बिना धर्म साधना नितान्त असंभव एवं कठिन है क्योंकि खुद का ज्ञान न होने से ही यह आत्मा धर्म साधन से च्युत (डिग) हो जाता है। इसी बात को एक कवि ने एक अद्वितीय ढंग से कहा है।

आतम को जाने विना
जप तप सब ही निरर्थ।

कण बिन तुष जिम फटकते
कछू न आवे हत्थ ॥१॥
जब जान्यो निज रूप को
तब जान्यो सब लोक।
नहिं जान्यो निज रूप को
जो जान्यो सो फोक ॥२॥

इस वास्ते सब से पहले अपनी आत्मा को जानना ही सब व्रत-तप और संयम है। कैसी है आत्मा। सुनिये !

चिदानंद आनन्दमय शक्ति अनंत अपार।
अपना पद ज्ञाता लखे जामें नहीं अवतार ॥१॥

हे भ्राताओ ! आत्म स्वभाव कैसा है परमात्मा के समान है। जिसमें जन्म जरा और मृत्यु के दुःख लेशमात्र भी नहीं है। अनन्त शक्ति का धारक है। लोक और अलोक का परिपूर्ण रूप से ज्ञाता है। यह सब संसारी

आत्माओं का स्वभाव है परन्तु तुम को इसका ज्ञान नहीं है अतः तुम भिखारी की तरह दर दर भटकते फिरते हो। हर कोई से ही किसी भी प्रकार की इच्छा की पूर्ति के वास्ते प्रार्थना करने को तैयार हो जाते हो। अरे भाई जब तक तुम्हें यह ज्ञात (मालूम) नहीं था तब तक तुम जो कुछ भी करते थे वह अज्ञान दशा में करते थे। लेकिन अब तो तुमको यह भली भांति ज्ञात हो चुका है कि मैं तो संसार भर की विभूति का स्वामी तुल्य चिदानन्द आनन्द घन स्वरूप हूँ। फिर क्यों न अपनी अनुभूति रूप प्रवृत्ति करूँ। अब ऐसा करो जो तुमने तुम्हारी आत्मा का स्वरूप सुना है जाना है। वैसा ही कर्तव्य कर्म करो। कटिबद्ध हो कार्य करो। यही यहां पर बताते हैं।

चिद् लक्षण पहिचान तैं

उपजे आनन्द आप।

अनुभव सहज स्वरूप को
जामें पुण्य न पाप ॥१॥

हे चैतन्य, आत्माओ! अब तुम तुम्हारी आत्मा के स्वभाव को सर्वज्ञ समान जानो मानो और पहिचानो! उसपर पूर्ण रीति से विश्वास करो इसी को सम्यक्त्व या सच्ची श्रद्धा कहते हैं। और भी सुनो?

अनुभौ के रस को रसायण कहत जग
अनुभौ अभ्यास यह तीथ को ठौर है।
अनुभौ की जो रसा कहावै सोई पोरसासु
अनुभौ अधोरसासु ऊरध की दौर है॥
अनुभौ की केलि इह कामधेनु चित्रावेलि
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत को कौर है।
अनुभौ कर्म तोरै परमसों प्रीति जोरै
अनुभौ समान न धर्म कोऊ और है॥

इसलिये हे प्राणियो दुःख से बचना चाहते हो तो निजानन्द जो अपनी आत्मा का ही स्वभाव है उसे खोजकर उसी में मग्न होने की कोशिश करो।

जब तुम संसार में जितनी भी कोशिश करते हो वह सब सुखी होने को ही करते हो। तुम खुद देख रहे हो सुन रहे हो जान रहे हो कि इस संसार में तुम से बड़े २ सेठ साहूकार हैं। राजा महाराजा हैं। चक्रवर्ती सरीखे महान् ऐश्वर्यशाली धनवान कुटुम्बवान सम्पत्तिशाली महा प्रतापी महापुरुष हो गये हैं जिन की हुँकार से बड़े २ योद्धा भी धीरता छोड़ देते थे क्या उनके पास सुख था? नहीं नहीं अगरचे होता तो वे दूसरों के धन को हरण करने का दूसरों को मारने का दुष्फल प्रयत्न क्यों करते। अपने आप को पुजवाने अपनी आज्ञा को मनवाने अपने को नमस्कार कराने के असफल तथा अनुचित उपाय क्यों करते। दूसरों को

जबर्दस्ती अपना सेवक एवं किंकर बनाने को क्यों बाध्य करते। इन सब बातों से यह तो बिलकुल साफ तौर से जाहिर होता है कि पर पदार्थ में धर्म धीरता सन्तोष और सुख नहीं है। वह तो एक मात्र आत्म स्वरूप की उपलब्धि में ही है। अतः आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये इस शरीर से काम लो नहीं तो यह शरीर तुम्हें धोका दिये बिना नहीं रहेगा। इसी बात को पुष्ट करने के लिये चेतन और अचेतन का सम्वाद सुनिये!

प्रश्न--सोलह सिङ्गार विलेपन भूषण से
निशि वासर तोहि संवारी
पुष्टि करी बहु भोजन पान दे
धर्मरु कर्म सबै विसारी
सेये मिथ्यात्व अन्याय करे
बहुते तुझ कारन जीव सताये

भक्ष्य गिन्यो न अभक्ष्य गिन्यो
अब तो चल काय तूं संग हमारे ।१।

उत्तर-ये अनहोनी कहो क्या चेतन
भांग खाय के भये मतवारे
संग गई न चलूं अबही, लखि
ये तो स्वभाव अनादि हमारे
इन्द्र नरेन्द्र धनेन्द्रन के नहि
संग गई तुम कौन विचारे
कोटि उपाय करो तुम चेतन
तोहु न जाऊँ मैं संग तुम्हारे ।२।

यह है आत्मा के प्रश्न का शरीर की ओर से उत्तर। इस उत्तर से प्रत्येक विचारशील को यह तो निश्चय हो ही जाना चाहिये कि यह शरीर जिसका पालन और पोषण करने में इस जीव ने कोई बात उठा नहीं रखी सब

तरह से इसका संरक्षण एवं सम्वर्द्धन किया यहां तक कि इसे सुन्दर और सुडौल बनाये रखने के हेतु पुष्टिकारक उत्तमोत्तम पदार्थों की प्राप्ति में इस जीव ने न्याय और अन्याय का भक्ष्य (खाने योग्य) और अभक्ष्य (नहीं खाने योग्य) का विचार ही नहीं किया तो भी इस शरीर का उत्तर वैसा ही रहा जैसा कि एक कृतघ्नी (किए हुए उपकार को स्वीकार नहीं करने वाले) मनुष्य का रहता है अतः हे भव्यात्माओ अब तो तुम चेतो-सावधान बनो और इस नश्वर शरीर मे अविनश्वर सुख की साधना करो अन्यथा संसार चक्र का अन्त असंभव है।

यदि कदाचित तुम्हें धन की विभूति की प्राप्ति भी हो जाय तो भी सुख की प्राप्ति तो दुर्लभ ही है यह बात निम्नलिखित छन्द से सर्वथा स्पष्ट है—

मणि के मुकुट महा शिरपै विराजतु हैं
हिए मांहि हार नानारतन के पोइये।
अलंकार और अंग अंग में अनूप वने
सुन्दर सरूप द्युति देखें काम गोइये॥
सुर तरु कुंजन में सुर मंघ सुख देखे
आवत प्रतीत ऐसी पुण्य बीज बोइये।
कर्म के ठाठ ऐसे कीने हैं अनेक बार
ज्ञान बिन भये यों अनादि ही के सोइये।१।

हे आत्मन पुण्य के ठाट से यह जीव क्या क्या व्यवस्था देख चुका। भोग चुका, अनुभव कर चुका, लेकिन सुख की प्राप्ति इसे रंच मात्र भी नहीं हुई। इसलिये हे भाई अब सुख को खोज करो। सुख की खोज में यह मनुष्य शरीर ही ज्यादातर काम देता है मनुष्य शरीर के बिना सुख का मिलना बहुत ही मुश्किल है। इस आयु का भी कोई ठिकाना

नहीं है नहीं मालूम यह कब शरीर से छुट्टी पा जाय। अतएक अब जल्दी से जल्दी सुख की खोज कर लेनी चाहिये। जिससे फिर कभी संसार की यातनायें न भोगनी पड़ें।

महात्माओं ने दुःख से दूर करने वाले और सुख में पहुंचाने वाले जिन वाक्यों का प्रयोग किया है वे वाक्य यहां बताये जाते हैं। सुनिये !

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम।
संसार दुःखतः सत्वानयो धरत्युत्तमे सुखे॥ ॥

(र. श्रा.) स्वामी समन्तभद्र

रत्नकरण्ड श्रावकाचार के कर्ता भगवान् समन्तभद्राचार्य प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं ऐसे सर्वोत्कृष्ट लोकोत्तर अनुपम धर्म का उपदेश करूँगा जो कर्मों का नाश करने वाला है। संसार के दुःखों से निकाल कर जीवों को मोक्ष सुख में पहुंचाने वाला है। वह धर्म रत्नत्रय

(सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र) रूप है। जैसे कि निम्न श्लोक के पूर्वार्द्ध से स्पष्ट होता है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भव पद्धति ॥१॥

स्वामी समन्तभद्र

हे भव्यजनो धर्म आत्मा का स्वाभ (असली) स्वभाव है यह आत्म स्वभाव कहीं दूसरी जगह नहीं मिलता है यह तो आत्मा में ही सदा विद्यमान रहता है। हां मिथ्यात्व के योग से वह प्रगट रूप में उपलब्ध नहीं है वह तो पुरुषार्थ से प्रगट किया जाता है, लोग कहते हैं 'धर्म करो और धर्मी बनो' वास्तविकता क्या है सुनो —

सब के पल्ले लाल, लाल बिना कोई नहीं।
यातें भयो कंगाल गाँठ खोल देखी नहीं ॥१॥

यहां कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि धर्मात्मा तो सभी जीव हैं परन्तु मिथ्या दर्शन के कारण आत्म स्वभाव सर्वथा आच्छादित (ढका हुआ) है उसे उघाड़ देना अर्थात् मिथ्यात्व को जड़ मूल से उन्मूलन कर देना इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। जैसे उन्मार्ग पर चलने वाले को समझा बुझाकर सन्मार्ग पर ले आना ही सन्मार्ग का प्रदर्शन करना है वैसे ही इस आत्मा को यह भान करा देना कि तेरा सच्चा स्वरूप क्या है उसकी प्राप्ति तुझे अभी तक क्यों न हुई। असली स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो सकती है आदि आदि बातों का निरन्तर विचार करने से यह आत्मा किसी न किसी समय अटूट शांति सुख का सम्राट बन सकता है।

प्रश्न—ऐसा कौनसा विचार है जिसे अमल में लाने पर यह आत्मा अजर और अमर पद का धारक बन सकता है।

(१)

उत्तर-कोऽहं को देशः कः कालः
के ममविषम गुणाः
केऽरयः के सहाया का
शक्तिः कोऽभ्युपायः फलमिहच
कियतीकीदृशी दैव
सम्पत्सम्पत्तौ को निबन्धः
प्रविदित वचनस्योत्तरं किन्तु
मे स्यादित्येवं कार्य सिद्धिः

(२)

को देशः कानिमित्राणि
कः कालः कौ व्ययागमौ
कश्चाहं का च मे कान्ता
हितन्नित्यं मुहुर्मुहुः

अर्थात्—मैं कौन हूँ। यह कौन काल है। सम और विषम गुण कौन है कौन मेरे शत्रु हैं, सहायक कौन हैं, मेरी शक्ति क्या है, आत्म स्वरूप की प्राप्ति का उपाय भी क्या है किस कार्य का क्या फल है और वह कितना है। भाग्य (पुण्य कर्म के उदय) से प्राप्त हुई सम्पदा कितनी और कैसी है। इस सम्पत्ति का क्या कारण है। मेरे द्वारा कहे गये वचन का फल क्या होगा कैसा होगा आदि का विचार करने से कार्य की सिद्धि अवश्य ही होगी! जिसमें मैं रह रहा हूँ यह कौन सा देश है; यहां पर कौन मेरे मित्र हैं। यह कौन सा समय है, मेरी आय कितनी है और व्यय कितना है, मैं कौन हूं, कौन मेरी स्त्री है, मेरा हित क्या है। निरन्तर ऐसा विचार करना प्रत्येक विचारशील मानव का परम धर्म है। ऐसा विचार करने से यह जीव उस आशा रूपी पिशाचिनी-डाकिनी जो इस

जीव के पीछे लगी हुई । इसे संसार रूपी महान् गड्ढे में ढकेलने का प्रयत्न कर रही है वह अपने कार्य में अवश्य ही असफल रहेगी जब तक पूर्वोक्त विचार रूपी धनुष तुम्हारे हाथ में रहेगा तब तक यह डाकिनी तुमसे कोशों दूर रहेगी । यदि तुम ने जरा भी उसे ढीला करने का विचार किया कि वह फौरन ही तुम पर धावा बोल देगी तब तुम फिर से कभी किसी भी तरह से उससे छुटकारा नहीं पा सकोगे । संसार में फिर तुम्हारा चक्कर चलता ही रहेगा जो तुम्हारे लिए महा दुःख का कारण होगा । इसलिये हे प्राणियो ! मैं तुम से फिर वही बात कहता हूं जो एक बार पहले भी कही जा चुकी है वह यह है ।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'

आप सब इस गुरु मन्त्र का विचार करें ध्यान करें और व्यवहार में इसे उपयुक्त

करें कि जो बातें हमारी आत्मा अपने लिये नहीं चाहती वह हमें उनको दूसरों के साथ नहीं करने को रोकती है इसी का नाम धर्म है बड़े २ ऋषियों ने इसे धर्म कहा है। ऐसे धर्म के ऊपर दृष्टिपात न करते हुए लोगों ने अब मन माना धर्म मान रखा है इसी से इस महान् पवित्र भारतवर्ष में महा विपरीतता रूप पाप श्रृंखला की प्रवृत्ति जारी हो गई है। इस पाप प्रवृत्ति को रोकने के वास्ते अब आपको उन्हीं महा पुरुषों के बताये हुए धर्म पर ही चलना होगा। उसी का सहारा लेना होगा। उसको ग्रहण किये बिना सुख एवं शांति की आशा करना दुराशा मात्र ही है। हमारे महापुरुषों ने लड़ाई के मूल तीन पदार्थ बताए हैं। आपने उनकी सीमा छोड़ दी। अब आप उन पर विश्वास पूर्वक डट जावो। संसार भर के तमाम लड़ाई झगड़े दंगे फिसाद अपने आप ही शांत हो जायेंगे।

उन तीन पदार्थों में (१) जर (धन) (२) जोरू (स्त्री) और (३) जमीन (पृथिवी) इन तीनों में ही हमारा जन्म और मरण घुसा हुआ है । इनका खुलासा विस्तार से वर्णन आगे किया जायगा । यहां प्रसंग वश हम कुछ और ही कह रहे हैं सुनिए—

वैष्णव सम्प्रदाय की अपेक्षा युग का आदि (सब युगों में) और जैनों की मान्यता के अनुसार तीसरा या चौथा काल जब होता है तब मनु यानी कुलकर होते हैं जिन्हें लोग परिस्ते भी कहते हैं वे लोग उस समय पर ही हुये थे और उन्होंने उस समय जन साधारण के कल्याण को दृष्टि में रखकर बहुत कुछ उपदेश दिया था । मर्यादाएँ बांधी थीं । उन मर्यादाओं पर लोग बड़ा ही संतोष करते थे । बड़ी बड़ी विकट से विकट परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भी लोग बिना

घबराये बिना बेचैनी के बड़े आनन्द से उन मर्यादाओं पर चलकर आनन्द मानते थे। एक दूसरे के बिगाड़ की भावना नहीं रखते थे। क्योंकि बिगाड़ (बुरा) का मूल कारण लोभ है जिसे पाप का बाप कहते हैं जिससे इस संसार की सम्पत्ति मजबूत होती है और उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है वह उस समय के लोगों में नहीं था क्योंकि वे उन कुलकारों के उपदेशों पर ही चला करते थे जिन मे लोभ का नामोनिशान भी नहीं रह सकता था। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उस समय के लोग सर्वथा लोभ कषाय से शून्य थे। लोभ कषाय तो थी लेकिन उन कुलकारों के उपदेशों से तथा उनके द्वारा बांधी हुई मर्यादाओं के कारण वह लोभ कषाय उन्हें सताती अर्थात पाप करने की ओर उन्हें प्रेरित नहीं करती थी। आज वही लोभ प्रायः प्रत्येक मानव का एक मात्र अलंकार हो रहा है दिन दूना रात चौगुना बढ़

रहा है इसी से लोग ज्यादा दुःखी होते जाते हैं और उसके निमित्त से घोर पाप बन्ध कर रहे हैं जिनके कारण यह जीव जन्म मरण कर दुःख उठा रहा है। कुयोनियों में जाकर महान कष्टों का अनुभव करना ही इसका एक मात्र कार्य बन रहा है। इसलिए हे आत्मन् यदि तुम दुःखों से डरते हो तो दुःखों को देने वाले लोभ के ऊपर पूरा कठोर शासन रखो। लोभ कषाय को पूर्ण रूप से शमन करो संसार भर की जितनी भी आत्मायें हैं चाहे वे नीची पर्याय में हों या ऊँची उन्हें आत्मा तुल्य समझ कर आत्म समान व्यवहार से सुखी करने का प्रयत्न करो इस तरह से तुम खुद पाप बन्ध से बच जाओगे। संसार में रहकर भी सुख का अनुभव करते रहोगे। यह है वर्तमान के कर्त्तव्य से पाप बन्ध न होने से सुखी रहने का मार्ग॥

अब रहा जो पूर्व समय में कर्म बांध लिए थे और जो सत्ता में मौजूद हैं। उनकी व्यवस्था करने का कार्य। यह जीव उन मौजूदा कर्मों से भी परमात्मा के समान अपनी आत्मा को दुःखों से बचा सकता है इसका उपाय निम्न प्रकार है। सुनिये!

किसी भी पदार्थ की दो अवस्थायें हो सकती हैं! (१ ली) शुद्ध अवस्था। दूसरी अशुद्ध दशा। जो शुद्ध दशा है वह तो पदार्थ का खास (असली) निजी स्वभाव है। जो अशुद्ध दशा है वह पर के सम्बन्ध से बिगड़ी (विकारी) हुई हैं। जो शुद्ध है वह तो निज स्वरूप मोक्ष है। जो अशुद्ध है वह ही संसार है।

संसार में यह जीव एक क्षण भी स्थिरता को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः तुम अपनी वर्तमान अवस्था को देखो कि खुद आप को जरासा भी सन्तोष नहीं है। जिधर देखो उधर

सिवा असन्तोष और दुःख के कुछ भी दिखलाई नहीं देता अतः हे आत्मन् । अब तू विचार कि तेरे अन्दर जो दुःख का कारण है वह क्या है और कौनसा है । सुन !

यत्र रागः पदंधत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः ।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्रामत्यधिकं मनः ।।१।

अर्थात् जहां पर राग अपना पैर जमाता है वहां द्वेष अवश्य ही होता है यह निश्चय है । इन दोनों (राग और द्वेष) के आलम्बन में मन अधिक चंचल हो उठता है । दुनिया में जितने भी दोष हैं वे सब राग और द्वेष के ही कार्य हैं । क्योंकि इनमें परस्पर कार्य कारण भाव रूप सम्बन्ध बना हुआ है । सुनिये !

आत्मनिसति पर संज्ञा स्वपर विभागात्परिग्रहद्वेषौ
अनयोः सम्प्रतिभद्राः सर्वे दोषाश्च जायन्ते ॥१॥

अर्थात् जहां पर राग रूप निजत्व होता है वहां पर परका खयाल हो ही जाता है ।

निज और पर का विभाग होने से निज में राग एवं पर में द्वेष रूप भाव हो ही जाता है बस इन दोनों के होने से समस्त अन्य द्वेष भी पैदा होने लगते हैं। क्योंकि वे सब इन दोनों के ही आश्रित होते हैं। इस प्रकार दुःख के मूल राग और द्वेष ही ठहरे इसी बात का वर्णन करते हुए एक कवि ने कितने सुन्दर ढंग से इसका खाका खींचा है। सुनिये !

मुञ्चांगं ग्लपयस्यलं क्षिप कुतो--
वक्तश्च विध्यत्यदो
दूरं धेहि न हृय एष किमभू--
न्या न वेत्सि क्षणाम्
स्थेयं चौधि निरुन्धि गामिति तवो--
द्योगे द्विषःस्त्री क्षिय--
न्त्याश्लेष क्रम कांगराग ललिता--
लापैर्विधित्सूरतिम् -

अर्थात्—आलिङ्गन के क्रम (तरीका) के विज्ञान से अंग में अनुराग (प्रेम) होने से और मनोहर वचनालापों से रति (सम्भोग) को करने की इच्छा करने वाली पत्नी से अकस्मात किसी शत्रु की शत्रुता का विचार उपस्थित हो जाने से पति कहता है हे प्रिये तू मुझे छोड़दे तू मेरे शरीर को बहुत दुख दे रही है। दूर हो यह मेरा वक्षःस्थल (सीना-छाती) मुझे दुखी कर रहा है हटो यह आनन्दित नहीं है क्या तुम दूसरी हो (नहीं तो-कहना क्यों नहीं मानती) समय को नहीं समझती स्थिर हो ओ (क्रीड़ा मत करो शरीर मत छुओ) वचन को भी मत बोलो तुम्हारी क्रीड़ा से शत्रु मुझे मार देंगे।

यह है काम क्रीड़ा करते ही अचानक शत्रु के व्यवहार की-उद्योग की चिन्ता के उपस्थित हो जाने से सुख में दुख का भान होना।

अर्थात—जिस पदार्थ को अच्छा माना जाता है वही पदार्थ बुरा भी मालूम होने लगता है यह सब राग और द्वेष की परिणति का ही प्रभाव है अतः हे आत्मान अब तो तू विचार कि इस संसार में दम्पती (पति-पत्नी) के वार्तालाप के एवं सुख के लिये लोग कितने प्रयत्न करते हैं और उसको कितना उत्तम समझते हैं परन्तु जब तबियत में रंजीदापन होता है तब वे ही दम्पती (स्त्री-पुरुष) की बातें एवं विषय-भोग अरुचिकर बुरे विष के समान मालूम होने लगते हैं उनसे विरक्त होकर सुख की खोज में उतरना पड़ता है अन्यथा दुःख मिटना असंभव ही हो जाता है।

इसलिए अब इन दुःखों को दूर करने के लिए क्या क्या प्रयत्न करना चाहिए। इसका उपाय तमाम संसारी जीवों को परम दयालु आचार्यों ने निम्न प्रकार से समझाए हैं कि हे आत्मन् पापों का विध्वंस करने के लिए

प्रत्येक जीव को सब से पहले यह विचारना और सोचना चाहिये कि ये पाप कैसे पैदा हुए इनकी उत्पत्ति का मूल कारण क्या है उत्तर में यही कहा जायगा कि इन पापों की मूल भित्ति मिथ्यात्व (अतत्व श्रद्धान) उल्टा विश्वास और विपरीत आचरण रूप कषाय भाव ही हैं । इन मिथ्या भावों को छोड़ देना ही पापों का नाश करना है। अब उन विपरीत श्रद्धान और विपरीत आचरणों का विशेष स्वरूप समझाया जाता है । सुनो ! विपरीत श्रद्धान उसे कहते हैं जो किसी भी पदार्थ के असली स्वरूप की प्रतीति को आत्मा में न होने देवे प्रत्युत सर्वथा भिन्न पदार्थ को ही किसी एक पदार्थ रूप में विश्वास करा देवे जैसे शरीर (जो कि पौद्गलिक है जड़ है स्पर्श रस गंध और वर्णवान् पदार्थ है पूरण और गलन ही जिसका स्वभाव है) को आत्म रूप से विश्वास करना । अर्थात—शरीर को ही

आत्मा मानना। हिंसा को ही धर्म समझना अर्थात्--जब मिथ्यात्व का सद्भाव रहता है तब इस जीव की परिणति बिल्कुल ही उल्टी रहा करती है जब कभी इस जीव को तीव्र असाता का उदय होता है तब यह विष खाकर, फांसी लगाकर, किसी शस्त्र आदि से अपना घात कर, अग्नि में जलकर, नदी में डूब कर पर्वत आदि से गिरकर अपने आपको दुःखों से उन्मुक्त करने में धर्म मानता है। तथा दूसरे मनुष्यों पर आई हुई विपत्ति को देखकर मनमें हर्ष मानना और विचारना कि अब मेरा मन आनन्दित होगा सुखी होगा क्योंकि कि इसने ही मुझे बहुत दुख दिया था अब बहुत ही अच्छा हुआ जो यह ऐसी विपत्ति में पड़ा हुआ महा दुख भोग रहा है ऐसों कि ऐसी ही दशा होनी चाहिए इत्यादि किसी के धन के नाश में कुटुम्ब के विनाश में पुत्र के मरण में स्त्री की मृत्यु में खुशी

मनाना हर्ष रूपी अथाह पारावार में गोते लगाना अपने विरोधी पर यदि कोई संकट आजाय तो उसे देख कर मन ही मन खुशी होना या बड़ी से बड़ी विपत्ति में उसे फंसाने का उपाय करते रहना या फंसा देने में खूब खुश होना आदि सब मिथ्यात्व (अतत्व श्रद्धान) से ही होते हैं । इस मिथ्यादर्शन के कारण ही यह आत्मा अनादि काल से इस संसार में घूम रहा है नाना प्रकार के कष्टों को भोग रहा है इन कष्टों को भोगते २ अनन्त काल व्यतीत हो गया है अतः हे आत्मन् यदि तू सुखी होना चाहता है तो इस मिथ्यात्व का नाश करने का उद्योग कर विषय कषायों को त्याग अन्यथा तेरा संसार बढ़ता ही जायगा क्योंकि तेरी प्रवृत्ति तो अनादि से ही उल्टी रही है जिस का प्रभाव निम्न प्रकार है । सवैया

देव अदेव नहीं लखैं
सुगुरु कुगुरु नहीं सूझैं
धर्म अधर्म नहीं गिनैं
कर्म अकर्म न बूझैं
कर्म अकर्म न बूझ गुणगुरु
औगुण नहीं जानहिं
हित अनहित नहिं समुझैं
निपुण मूरख नहिं मानहिं
कहत बनारसि ज्ञान दृष्टि
नहिं अन्ध अवेवहिं
धर्म वचन दृग ही लखैं
नहिं धर्म अधर्महिं ॥१॥

अर्थात्—धर्म रूपी चक्षुओं (आंखों) से रहित लोग न देव को देखते और न अदेव को न सुगुरु को देखते और न कुगुरु को। न

धर्म को पहिचानते और न अधर्म को न कर्तव्य को जानते न अकर्तव्य को। न गुण को समझते न अवगुण को। न हित को पहिचानते और न अहित को। न बुद्धिमान को जानते और न मूरख को। उन्हें तो काम करने से मतलब है चाहे वह अहित कर ही क्यों न हो। उन्हें तो सच्चे धर्ममय वचन भी बुरे मालूम होते हैं। यही बात नीचे छन्द से साफ तौर से जाहिर होती है। सुनिये !

तार्को मनुज जनम सब निष्फल
मन निष्फल निष्फल जुग कान
गुण अरु दोष विचार भेद विधि
ताहि महा दुर्लभ है ज्ञान
तार्को सुगम नरक दुख संकट
आगम पंथ पदवी निर्वान

जिन मत वचन दया रस गर्भित
जे न सुनें सिद्धांत महान

अर्थात—जिन पुरुषों के दयारूपी रस से पूरित भगवान जिनेन्द्र का कहा हुआ धर्मोपदेश कर्ण गोचर नहीं हुआ है उनका मनुष्य जन्म निष्फल है। मन का पाना भी बेकार है। कान भी बे काम ही हैं। उनके गुण और दोषों का भेद विज्ञान अत्यन्त ही दुर्लभ हैं अर्थात् सर्वथा असम्भव है। उन जीवों का नरक रूपी घोर संकट में पड़ना रुक नहीं सकता। उन्हें मोक्ष मार्ग का मिलना तो त्रिकाल में भी सम्भव नहीं हो सकता। जो मुमुक्षु (मुक्त होने की इच्छा) करते हैं उन्हें सर्व प्रथम अपनी कषायों को रोकना चाहिए उनके रोके बिना किसी भी प्रकार से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती अतः उन कषायों के स्वरूप का दिग्दर्शन करा देना यहां पर प्रसंग वश आवश्यक

प्रतीत होता है उन कषायों का विवेचन निम्न प्रकार से है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार कषायें हैं ये ही अनादि काल से इस जीव को अनन्त काल तक संसार में भ्रमण कराती रहती हैं। इन्हीं के आधीन हुए ये संसारी जीव अपने आपको भूले हुए हैं। इन्हीं के जाल में जकड़ा हुआ यह सारा संसार तड़फता रहा है बाहर नहीं निकल सकता।

क्रोध उसे कहते हैं जिसके वश मे यह जीव अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है इस को यह खबर ही नहीं रहती कि मैं कौन हूं मेरा क्या स्वभाव है। मैं जिसके साथ क्रोध कर रहा हूँ वह कौन है। इस बात का तो इसे ध्यान रहता ही नहीं है! क्रोध क्या क्या अनर्थ नहीं करता अर्थात् सब तरह के अनर्थ कराता है अनर्थों की तो यह खान है। इस क्रोध की चार अवस्थायें होती हैं। (१) पत्थर

की रेखा के समान। (२) पृथ्वी (जमीन) की रेखा के समान (३) धूलि की रेखा के समान (४) जल की रेखा के समान। इनका विशद (खुलासा) वर्णन इस तरह है।

(१) पत्थर की रेखा के समान का यह अर्थ है कि आज किसी ने कुछ कह दिया तो उसके वचन को बहुत समय तक याद रखना कभी भूलना नहीं उसका जिस तरह से बने उस तरह से बुरा करना या दूसरों से कराना अथवा बुरा हो गया हो तो खुशी मानना और दूसरों में उसकी बुराई करना। उसे नीचा दिखाना इत्यादि ॥१॥

(२) पृथ्वी की रेखा—जिस किसी व्यक्ति से कहा सुनी हो गई हो तो उसके प्रति छह महीने तक बुरी भावना रखना कि इसका यदि इस तरह से बुरा हो जायगा तो मैं दान पुण्य करूंगा अर्थात उसकी बुराई में आनन्द मानते हुए दानादि करना इत्यादि ॥२॥

(३) धूली रेखा—जिसके साथ कभी भी क्रोध पाकर गुस्सा का भाव हो जाय तो वह १५ पन्द्रह दिन तक बराबर बना रहता है और उसके कारण वह उस व्यक्ति को नुकसान पहुंचाने में दत्तचित्त रहता है। उसे पराजित करने का विचार करता रहता है और अपनी विजय में हर्ष मानता है। इत्यादि।३।

(४) जल रेखा—अर्थात कदाचित किसी भी पुरुष के साथ इस की झड़प (कहा सुनी) हो जाय और यदि वह इससे माफी मागने आजाय तो तात्कालिक ही माफी दे देवा इत्यादि।४।

जो लोग बात बात में क्रोध करते हैं और अपनी तथा पर की आत्मा को दुख पहुंचाते हैं वे मनुष्य कितने ही गुणवान क्यों न हो कोई भी उनकी भक्ति सेवा शुश्रूसा नहीं करते उनका आदर सत्कार भी नहीं करते। देखो

नाना प्रकार के रोगों को शान्त करने वाले मणि से संयुक्त दंशमसक जाति के सर्प को कोई नहीं पकड़ेगा और न पालेगा क्योंकि वह पूर्ण रूप से हानि पहुंचाने वाला होता है ऐसा ही क्रोधी के विषय में जानना चाहिए क्रोधी निरन्तर सन्तप्त रहता है उसके संसर्ग से दूसरों को भी संतप्त रहना पड़ता है।

प्रश्न—क्रोध से और क्या क्या हानियां होती हैं?

उत्तर—शराब के नशे के समान क्रोध से आंखों में लाली (रक्तिमा) आ जाती है। शरीर में अनेक प्रकार की कपकपी फैल जाती है। चित्त में विवेक शून्यता, विचार शक्ति की न्यूनता आ जाती है। यह क्रोध जीव को नाना प्रकार की आपदाओं के चक्कर में डाल देता है। कुमार्ग में पहुंचा देता है। जैसे जाज्वल्यमान अग्नि की उष्णता से पारा

बात की बात में ही पिघल जाता है वैसे ही क्रोध रूपी अग्नि के द्वारा मैत्री, यश, व्रत, तप यम, नियम संयम, दया सौभाग्य, वैदुष्य, आदि उत्तमोत्तम गुण पदार्थ देखते देखते ही नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं (भस्म हो जाते हैं) क्रोध से क्या क्या हालत होती है सुनिये।

क्रोध कर मरे और मारे तो फांसी होय
किंचित मारे तो जाय जेल खाने में।
जो कदा च निबल होय हाथ पांव टूट जाय
ठौर ठौर पट्टी बांधे पड़े सफा खाने में॥
पीछे से कुटम्बी जन हाय हाय करत फिरे
ठौर ठौर पांव पड़े तहसील और थाने में
नेक हू क्रोध किये होत है अनेक दुःख
होत हैं अनेक गुण जग गम खाने में॥ ॥

अतः हे बन्धुओ! क्रोध करना महा मूर्खता है। महान पाप है। बड़े से बड़े अनर्थ और

अपयश का कारण है। ऐसे महा दुखःदायी क्रोध को छोड़ने में ही आत्मा का महान हित-निहित है अतः इसे छोड़ो अवश्य ही छोड़ो।

अब मान के करने से इस जीव की संसार में क्या क्या हालत होती है यही यहां संक्षेप में बताया जाता है।

जो मानी पुरुष होते हैं वे अपने पूज्य पुरुषों का भी अनादर कर बैठते हैं। अभिमानी जन बड़े और छोटे सभी को समान समझने लगते हैं। अपने धर्म का गौरव करना भी भूल जाते हैं। मानी की दृष्टि निरन्तर मान की ओर ही रहा करती है जो महान पाप है। अहंकारी तो हमेशा लोगों की दृष्टि में पतित ही माना जाता है। कोई भी उसकी मान मर्यादा का ख्याल नहीं करता। गर्व के कारण मनुष्य बे मतलब ही दुर्भाग्य को अपने नजदीक बुलाता है अपने रहे सहे पुण्य का भी विसर्जन कर देता है। अधिक कहां तक कहा जाय जितने

भी दोष (दुर्गुण) संसार में सम्भव हो सकते हैं वे सब अभिमानी को आ घेरते हैं। देखो नदी के किनारे पर जितने वृक्ष सीधे खड़े हुए हैं उनमें जो वृक्ष सीधे हैं वे तो नदी के प्रवाह (पूर में बह जाते हैं। लेकिन जो वृक्ष झुके हुए रहते हैं वे प्रवाह (पूर) के आने पर स्वभावतः झुकजाते हैं अतएव जहां के तहां खड़े (जमे रहते हैं। ठीक यही बात मानी और नम्र पुरुषों के सम्बन्ध में समझना चाहिये अर्थात जो मनुष्य मान में चूर रहते हैं कभी किसी पूज्य पुरुष के आने पर भी अपने मान मे अकडे रहते हैं झुकते नहीं हैं वे बहुत ही जल्दी विनाश को प्राप्त होते हैं हां उनका अपयश (अकीर्ति अवश्य ही हजारों वर्षों तक संसार में अपना स्थान बनाये रहता है। लेकिन जो मानव नम्र विनयी और कोमल हृदय के होते हैं वे बहुत ही यश का अर्जन करते हैं दुनियां की दृष्टि में माननीय हो जाते हैं। उसका यश

(कीर्ति) कल्पान्त काल तक स्थिर रहता है। इस सम्बन्ध में एक कवि का कहना निम्न प्रकार है।

नमन बड़ो संसार में नहीं नमे सो नीच।
जल काटे पाषाण को वह हेर गोंदली बीच॥१॥

देखो जल के सामने बड़े बड़े पहाड़ भी अपनी स्थिति बनाये रखने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं। किन्तु घास का तिनका अपनी मौजूदगी को बाकायदे कायम रखता है इसका कारण एकमात्र कठोरता और कोमलता ही है। अतः जो दुनियाँ में जीवित रहना चाहते हैं यशस्वी बनना चाहते हैं और चाहते हैं कि संसार हमारा आदर करे हमारी इज्जत करे हमें माने हमें पूजे तो उन्हें चाहिये कि वे नम्र विनयी और कोमल बने और मान को तिलाञ्जलि दे दें।

अब माया कषाय के वशीभूत हुआ जीव कैसी कैसी यातनाओं को सहता फिरता है यही

विचार आपके सामने प्रस्तुत किया जाता है। मायाचारी उन्हें कहते हैं जो मन में विचार करते हैं वह वचन से नहीं कहते और जो वचन से कहते हैं वह काय से नहीं करते। ऐसे लोगों के चक्कर में फँसा हुआ मनुष्य उलझन में पड़ जाता है कि कर्तव्य विमूढ़ हो जाता है वह यह नहीं सोच पाता कि मैं क्या करूँ क्योंकि मायावी के माया जन्य दाव पेचों को समझना मायाचारियों का ही काम है सरल हृदय मानवों का नहीं मायाचारी स्वयं दुखी रहता है और दूसरों को भी दुखी करता रहता है। माया के प्रभाव से वह जीव मरकर तिर्यञ्च गति में जन्म लेता है जहां के दुखों का वर्णन करना मानवी शक्ति से परे है कदाचित् मनुष्य गति में जन्म ले तो इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग जन्य दुखों को भोगता है। किंकरता (नौकरपन) निर्धनता, दरिद्रता, बन्धुहीनता, दुखिता, विकलांगता, अधिका-

ज्ञता आदि नाना प्रकार के कष्टों का पात्र होता है। माया कषाय के कारण ही स्त्री पर्याय की प्राप्ति होती है स्त्री पर्याय में भी बन्ध्या (बांझ) दशा का होना अर्थात जीवन भर निःसन्तान रहना। पति का वियोग होना। असमय में पुत्र का वियोग होना। पशु पर्याय में भी एकेंद्रिय से असञ्ज्ञीपंचेन्द्रिय तक के दुःखों का वर्णन तो सर्वथा असम्भव है। सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय पशु के दुःख तो हमारे और आपके सामने दृष्टिगोचर हो ही रहे हैं जिनका बयान करना बहुत ही कठिन ही नहीं बल्कि बिलकुल असम्भव है। मायाचारी पुरुष हमेशा सशंक रहता है उसे इस बात की चिन्ता निरन्तर बनी रहती है कि मैंने जो व्यूह (कपट) रचा है वह किसी तरह से प्रगट न हो जाय नहीं तो मेरा रहने का भी ठिकाना नहीं रहेगा अपने किये पर वह सदा खेद खिन्न रहता है जिससे परिणामों में कभी भी शांति

विचार आपके सामने प्रस्तुत किया जाता है। मायाचारी उन्हें कहते हैं जो मन मे विचार करते हैं वह वचन मे नहीं कहते और जो वचन मे कहते हैं वह काय से नहीं करते। ऐसे लोगों के चक्कर में फँसा हुआ मनुष्य उलझन में पड जाता है कि कर्तव्य विमूढ़ हो जाता है वह यह नहीं सोच पाता कि मैं क्या करूँ क्योंकि मायावी के माया जन्य दाव पेचों को समझना मायाचारियों का ही काम है सरल हृदय मानवों का नहीं मायाचारी स्वयं दुखी रहता है और दूसरों को भी दुखी करता रहता है। माया के प्रभाव से वह जीव मरकर तिर्यञ्च गति में जन्म लेता है जहां के दुखों का वर्णन करना मानवी शक्ति से परे है कदाचित् मनुष्य गति में जन्म ले तो इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग जन्य दुखों को भोगता है। किंकरता (नौकरपन) निर्धनता, दरिद्रता, बन्धुहीनता, दुखिता, विकलांगता, अधिका-

हनता आदि नाना प्रकार के कष्टों का पात्र होता है। माया कषाय के कारण ही स्त्री पर्याय की प्राप्ति होती है स्त्री पर्याय में भी बन्ध्या (बांझ) दशा का होना अर्थात जीवन भर निःसन्तान रहना। पति का वियोग होना। असमय मे पुत्र का वियोग होना। पशु पर्याय मे भी एकेंद्रिय से असञ्ज्ञीपंचेन्द्रिय तक के दुःखों का वर्णन तो सर्वथा असम्भव है। सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय पशु के दुःख तो हमारे और आपके सामने दृष्टिगोचर हो ही रहे हैं जिनका बयान करना बहुत ही कठिन ही नहीं बल्कि बिलकुल असम्भव है। मायाचारी पुरुष हमेशा सशंक रहता है उसे इस बात की चिन्ता निरन्तर बनी रहती है कि मैंने जो व्यूह (कपट) रचा है वह किसी तरह से प्रगट न हो जाय नहीं तो मेरा रहने का भी ठिकाना नहीं रहेगा अपने किये पर वह सदा खेद खिन्न रहता है जिससे परिणामों मे कभी भी शांति

नहीं टिक पाती। मायाचारी को सदा दुःख ही दुःख बना रहता है इसकी स्वयं अपनी आत्मा में ही परीक्षा करके देखो दूर भटकने की जरूरत है ही नहीं। जैसे किसी किसान ने बड़े भारी परिश्रम से धान्य पैदा किया लेकिन उसकी रक्षा में उसने ज्यादा ध्यान नहीं दिया। असावधानी की। अपनी असावधानी से ही यदि कदाचित जरासी अग्नि की चिन-गारी उस धान्य के ढेर मे जा गिरे तो वह जरासी देर मे ही उस धान्य को भस्म कर देती है वैसे ही यह पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुई बड़ी भारी सम्पत्ति को भी अपनी ही नासमझी से माया के जाल में फंसकर उसे तीन तेरा नष्ट भ्रष्ट करके खुद राजा से रंक हो जाता है और भविष्य में पाप के फल को भोगता है। ऐसे माया कषाय को त्याग देना ही आत्म का श्रेयस्कर है।

अब लोभ कषाय का क्या फल है लोभी की क्या दशा होती है। लोभ करने से क्या क्या नुकसान हैं यह जानना भी अत्यावश्यक है क्योंकि जब तक लोभ से होने वाले दोषों का ज्ञान नहीं होगा तब तक उसके त्याग की ओर आत्मा का झुकाव नहीं हो सकता अतः लोभ का वर्णन किया जाता है।

संसार में जो पदार्थ स्थायी हैं वे अस्थायी हो जावें। सूर्य अपनी उष्णता छोड़ देवें। चन्द्रमा अपनी शीतलता को त्याग देवें। आकाश अपनी अवगाहन शक्ति का निरोध कर लेवें। समुद्र अपनी गम्भीरता और मर्यादा को लांघ जावे। वायु अपनी गति को बन्द कर देवे। अग्नि भी अपना दाह (जलाना) कर्म करना छोड़ देवे। तो भी लोभ रूपी अग्नि कभी भी शांतिदायक नहीं हो सकती जैसे बुझने वाली अग्नि ईंधन डालने से बार २ भभक उठती है और बड़े २ मकानों को वन उपवन को भस्म कर देती है

वैसे ही लोभ रूपी अग्नि भी समय समय पर प्रज्वलित होकर बड़े बड़े तपस्वियों योगियों और मुनियों के विद्या, शास्त्र व्रत, तप, शम और संयम आदि उत्कृष्ट गुणों को भी तत्काल ही भस्म कर देती है।

हे बन्धुओ देखो ! बड़े २ ज्ञानी पुरुष भी धन रूपी पिशाचिनी के चक्कर में पड़ कर नहीं करने योग्य कार्य कर डालते हैं। जैसे धन की आशा से भूतल को खोदना पर्वत की धातुओं को फूँकना। राजा के घोड़े के आगे आगे दौड़ना। नाना देशों में परिभ्रमण करना यह सब लोभ कषाय के उदय से प्रेरित हुआ प्राणी करता है। लेकिन बिना पुण्य के इतना सब कुछ करते हुए भी इसे कुछ नहीं मिलता। हां जब पुण्य का उदय होता है तब बिना किये कराये ही घर बैठे धन छप्पर तोड़ कर घर में आ जाता है।

इसलिये धन की आशा को छोड़ पुण्य का ही उपार्जन करना चाहिये। लेकिन खेद तो यही है कि लोभ के वशीभूत लोगों को पुण्य करना तो रुचिकर होता ही नहीं उन्हें तो पाप करने में ही आनन्द आता है। और तो हम क्या कहें। लोभी पुत्र अपने माता पिता से भी धन के लोभ में आकर लड़ाई झगड़ा कर बैठते हैं। उन्हें मारने पीटते सभी नहीं करने योग्य कार्य भी कर डालते हैं। यही बात नीचे के दोहे में कही गई है।

दोहा

लोभी क्या नहि कर सके मात पिता से द्वन्द।
धन जीवन अरु राज हर डाल देत है फन्द॥१॥

कहने का तात्पर्य यह है कि लोभ के अधीन हुए ये संसारी प्राणी महा दुखी हो रहे हैं। यदि ये संसार में रहते हुए भी सुखी रहना चाहें तो उन्हें चाहिये कि अपने हृदय

में सन्तोष धारण करें सन्तोष ही एक ऐसा उपाय है जिसके जरिये यह जीव खुद खुश रह सकता है और दूसरों को भी खुशी कर सकता है। यही बात नीचे बताई जाती है। सुनिये !

सदा सन्तोष कर प्राणी अगर सुखी रहा चाहे।
घटा दे मन की तृष्णा अगर दुख से बचा चाहे॥

हे बन्धुओं ये लोभी प्राणी लोभ के पीछे संसार में क्या क्या करता है वह तो भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ही जान सकते हैं। हम तुम नहीं !

कषाय के वश हो ये संसारी कैसी कैसी क्रियायें करते हैं। सो सुनिये ! संसार में ८४ चौरासी लक्ष योनियां मानी हैं उनके नाश करने के वास्ते जो साधु ८४ चौरासी धूनियां लगाकर तपते हैं उसका कुछ वर्णन यहां पर किया जाता है श्री कृष्ण जी के महामन्त्र नारद ऋषि थे एक दिन नारद जी ने श्रीकृष्णजी से प्रश्न किया। हे भगवन्

संसार में ८४ चौरासी लाख योनियां और २ सी हैं। नारद जी के प्रश्न का उत्तर श्रीकृष्णजी ने एक कागज पर लिख दिया। जिस कागज पर ८४ चौरासी लाख योनियों के नाम श्रीकृष्णजी ने लिखे थे। उस कागज को नारद जी ने जमीन के ऊपर फैला दिया बिछा दिया। उस बिछे हुए कागज पर नारद जी ने ३ या ५ या ७ बार उलट पुलट कर लोट कर पलेटा खाकर श्री कृष्ण जी से कहा कि हे भगवन मैंने आपके सामने देखते २ ही चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगा लिया है अब मेरी मुक्ति होनी चाहिये। तब श्री कृष्ण जी ने नारद जी को वरदान दिया कि हे नारद जो साधु ८४ चौरासी धूनियों में अग्नि जलाकर अपने शरीर को तपायेगा वह ८४ चौरासी के जन्म मरण से हमेशा के वास्ते छूट जायगा। परन्तु यह बात नहीं है। बात तो असली यहां है कि संसारी जीवों को चौरासी से छुटकारा पाने से ८४ चौरासी

लाख योनियों मे छुटकारा अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। वह चौरासी अनन्तानुबन्धी कषाय, अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय, सज्वलन कषाय ये चार कषाय रूप ही है इनके एक एक के असंख्यात लोक प्रमाण अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं जो तमाम संसारी जीवों को महादुख के देने वाले हैं। इनसे बचने का नाम ही चौराशि का नाश करना है अतः हे भव्यजन यदि आप लोग चौराशि के कष्टों से पार होना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को प्राप्त करो जिससे चौराशि का सर्वथा नाश हो जाय और तुम्हे सर्वदा के वास्ते मुक्ति प्राप्त हो जाय।

इसे ही चौराशि मे छूटना कहा जाता है। जब तक ये चारों कषायें नहीं छूटती और जब तक इन्हें छुटाने अर्थात नाश करने का प्रयत्न किया जाता है तब तक ही यह कहा जाता है

इस चौराशि धूनियों में संसार चक्र रूपी अग्नि में तप रहे हैं । अन्य मत वाले ८४ चौरासी प्रकार की अग्नि के ढेर कर (धूनियां लगाकर) शरीर को तपाने लग गये और कहने लग गये कि ऐसा तप करने से यह आत्मा चौरासी के चक्कर से छूट जाता है यह बात किसी भी विवेकी के विवेक रूपी कसौटी पर कसने से खरी नहीं उतर सकती । यह तो एक ऐसी क्रिया है कि आंख में तो तकलीफ है और पांव का इलाज किया जा रहा है तो क्या पांव के इलाज से आंख की तकलीफ दूर हो जायगी । नहीं कभी नहीं । आंख का इलाज करने पर ही आंख की तकलीफ दूर हो सकती है । इसी प्रकार से चारों कषायों के नाश करने पर ही चौराशि का नाश हो सकता है अतः चौराशि (चारों कषायों) के नाश करने में सतत प्रयत्न शील बने रहना ही चौरासी धूनियों का तपना है परन्तु इस तत्त्व को नहीं समझने वालों ने

अग्नि जलाकर जीव हिंसा में ही पुण्य माना है। अतः मुक्ति की प्राप्ति तो दूर किनारे रहे संसार के सुखों की प्राप्ति होना भी नितान्त असम्भव है क्योंकि जीव हिंसा स्वयं पाप या पाप का कारण है। जो पाप है या पाप का कारण है। उस का कार्य तो दुःख ही है। इसका विस्तार से वर्णन किया जाता है। जो निम्न प्रकार है। सुनिये !

दोहा

पाप नाम नरपति महा करे नरक में राज।
तिन पठियाये व्यसन यहां निजपुरबस्तीकाज॥४॥

पाप आत्मा को साक्षात परमात्मा के समान है नरक में डाल देते हैं। इसी बात की पुष्टि नीचे के दृष्टांत में की जाती है। एक साधु महाराज बड़े ज्ञानी और ध्यानी थे उन्होंने एक राजा को सम्बोधित करने के लिये अपना सच्चा वेष बदल कर ऐसा वेष बनाया जिसमें सातों व्यसनों का सेवन स्पष्ट रूप से ही

अर्थात—एक राजा किसी साधु महाराज के दर्शन के लिये आया। आते ही क्या देखता है कि साधु जी के पास एक जाल रखा हुआ है। तत्काल ही राजा ने साधु महाराज से पूछा ! हे महाराज आप जाल भी रखते हैं तो मांस भी खाते होंगे। साधु जी ने जवाब दिया हां मांस भी खाता हूँ परन्तु किसी समय मद्य पिये बिना मांस नहीं खाया जाता तो मदिरा भी पी लेता हूं। राजा ने कहा तो महाराज तुम मदिरा भी पीते हो ! साधु जी ने कहा हां मेरे को वेश्या सेवन का भी बड़ा शौक है इस लिए मदिरा भी पीता हूँ। राजा ने कहा महाराज तो आप वेश्या सेवन के लिए धन कहां से लाते हो क्योंकि वेश्या को तो धन से ही ज्यादा प्रेम (मुहब्बत) होता है। साधु जी ने कहा राजन् आप का कहना बिलकुल सच है कि वेश्याओं की तो धन से ही मुहब्बत होती है पुरुष से

नहीं। धन के वास्ते मैं जुआ खेलता हूं जिससे धन की प्राप्ति हो जाती है यदि कभी हार जाऊं तो पास का धन भी चला जाता है तबतो मैं चोरी करने चला जाता हूं और बहुत सा धन चुरा कर ले आता हूं। इस बात को सुनकर राजा विचारता है कि देखो इतना ऊंचे दरजे का महात्मा होकर भी लोभ के वश में आकर नहीं करने योग्य कार्यों को भी कर बैठता है धिक्कार है इस लोभ को जो परमात्मा के समान इस आत्मा को महान निकृष्ट नीचातिनीच बना देता है अतः पाप के बाप इस लोभ कषाय का त्याग करना ही आत्म हितैषियों का आद्य कर्तव्य है।

इस प्रकार से नारद जी और श्रीकृष्णजी के प्रश्नोत्तर के प्रसङ्ग मे चौराशि का अभिप्रेतार्थ चतुर्विध कषायों पर विजय प्राप्त करना ही है क्योंकि ये कषायें ऐसी हैं जैसे किसी पुरुष ने धतूरे को खाया, खाते ही उसकी आंखों में

ऐसा रंग पैदा हो गया जिस से वह आंखों के सामने आये हुए तमाम पदार्थों को "जो भिन्न भिन्न वर्ण वाले हैं" एक पीत वर्ण वाले ही जानता है देखता है। यहां पर उस मनुष्य के नेत्रों का यह अपराध नहीं हैं यह तो उस धतूरे का दोष है जिसके खाने से उस मनुष्य के नेत्रों की रंगत ही एक तरह की हो जाती है वैसे ही क्रोधादि कषायों के निमित्त से यह जीव निज स्वरूप से वञ्चित होकर पर स्वरूप को ही निजत्व रूप से जानने और देखने लग जाता है। इन्हीं का प्रतिफल ही चतुर्गति रूप संसार है जो नाना प्रकार के दुखों की खान है।

अतः जीवों को चाहिए कि वे अपने सुख की प्राप्ति के जो उपाय ऋषियों ने महार्षियों ने बताये हैं उनको धारण करें--पालन करें। सुख की उपलब्धि का एक मात्र साधन धर्म ही है वह धर्म-शास्त्रों में शास्त्र कारों ने निम्न प्रकार से कहा है।

गाथा

धम्मो वत्थु महावो, खमादिभावोयदहविहोधम्मो
चारित्तं खलुधम्म जीवाण रक्खणो धम्मो ॥१॥

अर्थात हे प्राणियो आप यह अच्छी तरह से समझिये कि धर्म दूसरी बात है पुण्य दूसरी बात है। धर्म तो वस्तु (पदार्थ) के निजी स्वरूप को कहते हैं। शुभ भावों सहित दान आदि सत्कार्यों के करने को पुण्य कहते हैं। इस तरह से धर्म और पुण्य में रात दिन जैसा फर्क है। यहां पर उस धर्म का कथन है जो वस्तु का खास स्वभाव है न कि शुभ भाव रूप मे कुछ दान आदि का करना। उपर्युल्लिखित गाथा में आचार्य भगवान ने धर्म का स्वरूप चार प्रकार से वर्णन किया है। (१ भेद) वस्तु का स्वभाव ही वस्तु का धर्म है। जैसे आत्मा का स्वभाव ज्ञान दर्शन है यही आत्मा का खास धर्म है। अग्नि का स्वभाव उष्णता और

जल का स्वभाव शीतलता है यही दोनों उन दोनों के खास धर्म हैं। (२ रा भेद) क्षमादि दश भेदरूप भी धर्म है जो एक की निवृत्ति और दूसरे की प्रवृत्ति रूप है जैसा क्रोध रूप कषाय की निवृत्ति और क्षमा रूप गुण की प्रवृत्ति का नाम धर्म है। (३ रा भेद) चरित्र रूप भी धर्म है अर्थात आत्म रूप में स्थिर हो जाना चारित्र रूप धर्म है लेकिन यह आत्म रूप स्थिरता बिना सम्यग्ज्ञान के त्रिकाल में भी संभव नहीं हो सकती और ज्ञान की सम्यक्ता बिना सम्यग्दर्शन के नहीं बन सकती अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय भी धर्म है। (४ था भेद) जीवों की रक्षा करना धर्म है अर्थात संसार के सभी जीवों (चाहे वे किसी भी दशा में क्यों न हो एकेन्द्रिय से सञ्ज्ञी पञ्चेंद्रिय तक) की रक्षा करना भी धर्म ही है क्योंकि संसार में जितने भी जीव हैं वे सब एक लक्षण को धारण

करने वाले हैं अतः उनमें किसी को बड़ा और किसी को छोटा न समझते हुए अपने समान ही समझ कर उनकी अपने सरीखी रक्षा करना धर्म है। इस प्रकार इन चारों तरह के धर्मों का शास्त्रों में बड़े विस्तार से कथन किया गया है। इनमें से हम प्रसंग वश क्षमादि दश धर्मों का वर्णन करते हैं जो निम्न प्रकार है। सुनिये !

क्षान्तिर्मृदुत्व मृजुता शुचिता च सत्यम्
संशोभितो यमभरस्तपसां चयश्च
त्यागोऽपरिग्रहभवो वर ब्रह्मिताच
ज्ञेया इमे दश विधाः खलु धर्म भेदाः ॥ ॥

अर्थात्—(१) उत्तम क्षमा (२) उत्तम मार्दव (३) उत्तम आर्जव (४) उत्तम शौच (५) उत्तम सत्य (६) उत्तम संयम (७) उत्तम तप (८) उत्तम त्याग (९) उत्तम अपरिग्रह आकिञ्चन्य (१०) उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्म के भेद हैं! इनका पृथक् २ स्वरूप निम्न प्रकार है।

क्रोध के कारणों के उपस्थित होने पर भी अपनी आत्मा में क्रोध का न होने देना ही क्षमा है यह आत्मा का ही स्वभाव है। उत्तम विशेषण है जो यह बताता है कि किसी भी सांसारिक पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा न रखते हुए क्रोध कषाय को न होने देना ही सच्ची उत्तम क्षमा है। यही आत्मा का सच्चा स्वरूप होने से धर्म है। इस धर्म को धारण करने के लिए इस आत्मा को कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है। यह तो आत्म स्वरूप होने से आत्मा में ही आत्मा के द्वारा आत्मा प्राप्त कर लेता है।

हे बन्धुओ जो जीव क्रोध के ऊपर विजय प्राप्त कर क्षमा धर्म को धारण नहीं करते वे क्रोध के अधीन हो नाना प्रकार के जन्म मरण आदि के दुखों को भोग २ कर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं उनके संसार का अन्त नहीं होता है। क्रोध आत्मा का वह वैरी है

जो निरन्तर ही इस आत्मा को सताया करता है। क्रोध के कारण ही लोग इस जीव के साथ वैर भाव रखते हैं। क्रोधी मनुष्य का कोई भी मित्र नहीं होता है। क्रोधी से मानव कोशों दूर रहते हैं नफरत करते हैं। क्रोधी मनुष्य की विपत्ति में भी कोई सहायता नहीं करते। क्रोधी के तमाम अच्छे २ गुण भी क्षण भर में क्रोध करने से नाश को प्राप्त हो जाते हैं अतः क्रोध का त्याग करना ही श्रेयस्कार है। क्रोध के त्याग से अर्थात् क्षमा धारण करने से आत्मा मे अनेक गुण अपने आप ही प्रगट हो जाते हैं जिनसे यह आत्मा संसार पूज्य हो जाता है।

देखो जो संसार में इस जीव को ऊंचा रखकर सांसारिक सुखों का संगम कराता हुआ अन्ततोगत्वा इस जीव को मुक्ति सुख का अनुभोक्ता करा देता है वह एक मात्र क्षमा सहनशीलता--आत्मा का असाधारण गुण है ऐसे गुण को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले

जीवों का यह आद्य कर्तव्य है कि वे अपने मन को अपनी अधीनता में रखने का प्रयत्न करें क्योंकि मन ही बिना लगाम का घोड़ा है यही अधिकतर क्रोध को पैदा करने में सहायता का काम करता रहता है जरासी बात को ले कर मन ही उसे बढ़ाकर क्रोध के रूप में परिणत कर देता है हाँ यदि मन चाहे तो उस बात को भुलाकर सन्तोष के साथ सहनशीलता पैदा कर आत्मा में क्षमा नाम के उस महान् गुण को उत्पन्न कर सकता है जिसके बल से यह जीव संसार से पार हो सकता है अतः क्रोध की भूमि रूप मन को वश में करना प्रत्येक क्षमाभिलाषी मनुष्य का कर्तव्य होना चाहिए। इसी में आत्मा का कल्याण है।

मार्दव नाम कोमलता का है। यह कोमलता आत्मा का ही एक खास गुण है। आत्मा के सिवा किसी अन्य पदार्थ में नहीं पाया जाता। यह गुण आत्मा से मान कषाय के नाश हो

जाने पर ही आत्मा में प्रगट होता है। इस गुण के प्रगट होते ही यह आत्मा तमाम संसार के प्राणियों को अपने ही समान मानता है किसी को भी अपने से नीचा (हीन) नहीं समझता है। इस मार्दव धर्म की प्राप्ति का मुख्य कारण अनादि कालिक मान कषाय का न होना ही है। मान कषाय के होने पर यह जीव अपने समान जीवों को अपने समान न मानकर अपने से भिन्न जीवों को अपने से हीन छोटा मानता है और चाहता है कि ये सब मेरी आज्ञा में चलें। मुझे झुककर नमस्कार करें। मेरी विनय करें। मुझे अपना स्वामी (मालिक) मानें। यदि कोई मनुष्य (जिससे यह अपने को नमस्कार या प्रणाम कराना चाहता है) इसे प्रणाम या झुक कर बड़ी अदब से नमस्कार नहीं करता तो यह उससे नमस्कार कराने के लिये बड़े बड़े अनुचित एवं अयोग्य व्यवहार उसके साथ किये बिना

नहीं रहता जब तक नमस्कार नहीं करा लेता तब तक चैन नहीं लेता है मान के मद में चूर हुआ यह जीव संसार में बड़ा दुखी होता है क्योंकि यह अपनी इच्छानुसार ही सब को चलाना चाहता है लेकिन ऐसा होना सर्वथा असम्भव है क्योंकि पदार्थों का परिणमन कभी भी किसी की इच्छानुसार न तो हुआ है और न होगा अतः मान कषाय का त्याग करना ही श्रेयस्कर है बड़े २ मानियों का मान संसार में नहीं रहा रावण सरीखे त्रिखण्डी राजाओं को भी मान के पीछे महान तिरस्कार सहने पड़े तो हमारी और आपकी तो बात ही क्या है। मार्दव धर्म को धारण करने में ही आत्मा को ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सुख की प्राप्ति के साथ ही साथ उस अलौकिक शिव सुख की प्राप्ति भी निः-सन्देह हो सकती है जिसकी अभिलाषा प्रत्येक मानव के मन मंदिर में निरन्तर जागरूक रहती है अतः मार्दव धर्म को धारण करना

ही सुख और शांति का कारण है ऐसा समझ कर ही इसे पालन करो। जहां मृदुता-कोमलता और सरलता है वहां अनेक गुण अपने आप ही आकर एकत्रित हो जाते हैं। लोक में सरल स्वभावी का बड़ा आदर और सत्कार होता है। बड़े बड़े शत्रु क्रूरातिक्रूर परिणामी भी निरभिमानी के चरणों में नत मस्तक हो अपनी क्रूरता को नौ दो ग्यारह कर देते हैं।

उत्तम आर्जव अर्थात आत्मिक भावों की सच्ची सरलता जिसमें किसी भी तरह की छल कपट की झलक न हो क्योंकि छल कपट वहीं किया जाता है जहां किसी को ठगना हो धोके में डालना हो अपना उल्लू सीधा करने के लिए ही लोग कपट जाल रचते हैं। स्वयं दुखी होते हैं और दूसरों को भी दुखी करते हैं। कपट जाल की रचना का प्रधान कारण माया कषाय है इस कषाय के उदय में आने पर ही यह जीव नहीं करने योग्य कार्यों को कर बैठता

है जिसका नतीजा बहुत ही बुरा होता है। मायाचार से मनुष्य का जीवन ही बिगड़ जाता है। मायाचारी लोगों की संसार में बड़ी बुरी हालत होती है। मायाचारियों का विश्वास बिलकुल ही जाता रहता है ऐसे लोग भयंकर शत्रु के समान समझे जाने लगते हैं। मायाचार एक ऐसी तलवार है जिसके चलानेपर दोनों का जीवन खतरे में पड़ जाता है अतः ऐसी माया कषाय का त्यागना ही लाभदायक है।

माया कषाय के उदय में आने पर यह जीव मन में जो कुछ भी विचार करता है उसे वचन से वैसा नहीं करता और वचन से जो कुछ भी कहता है शरीर से वैसा नहीं करता नतीजा यह होता है कि लोग ऐसे धूर्तों के चक्कर में जब कभी आ जाते हैं तब दुःख ही उठाते हैं क्योंकि मायाचारी की मन वचन और काय की प्रवृत्तियों को मायाचारी ही जान सकते हैं सरल स्वभावी नहीं। नीतिकारों ने

नीचात्माओं और महात्माओं की पहिचान का तरीका निम्न प्रकार से बताया है। सुनिये !

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्धि पापिनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मानाम् ॥१॥

अर्थात् पापी पुरुषों (नीचात्माओं) के मन में कुछ और वचन में कुछ और कार्य में कुछ और ही रहता है। महापुरुषों (महात्माओं) के जो मन में होता है वही वचन से निकलता है और जो वचन से बोला जाता है वही कार्य में देखा जाता है।

अतः प्रत्येक मानव का यह परम धर्म है कि वह माया कषाय के फन्दे में फंसकर पापी नीचात्मा न बने किन्तु मायाजाल को तिलाञ्जलि देकर महात्मा बने। महात्माओं का संसार में बड़ा आदर होता है। लोग उनके वचनों को अपने लिए अमृत के समान सुखदायक मानते हैं अतः माया कषाय का छोड़ना ही कल्याण कारी है।

उत्तम शौच—अर्थात सर्वथा लोभ का त्याग करना। लोभ का त्याग किये बिना शौच (पवित्रता निर्मलता) गुण का आत्मा में प्रगट होना नितान्त असंभव है। यह लोभ तमाम पापों का घर है। लोक में भी "लोभ पाप का बाप बखाना" ऐसा कहा जाता है यह तो प्रायः अनुभव में भी आता है यह तो प्रायः प्रत्येक मनुष्य के रोजमर्रा की चीज है इसे किये बिना मनुष्य को संतोष ही नहीं होता क्योंकि यह लोभ प्रायः मनुष्य की आदत में शुमार हो रहा है। इसके दुष्परिणाम को प्रायः संसारी जीव समझ ही नहीं पाते यह इतना भुलावे में डालने वाला है कि इसकी भूल भुलैया में आया हुआ जीव खुद अपने आपको ही भूल जाता है। कई २ मुनियों को भी यह पछाड़ देता है नीचे पटक देता है। गुण स्थानों में दशवें गुण स्थान का नाम इसी लोभ के कारण ही सूक्ष्म साम्पराय (अर्थात सूक्ष्म लोभ की सत्ता यहां

तक पाई जाती है) रक्खा गया है । यह लोभ ही आत्मा का महान् बैरी है । दुनियां के तमाम जीवों पर इसने काबू कर रखा है। संसार परिभ्रमण का एक मात्र कारण यह लोभ ही है अतः इसका त्याग करना ही आत्म हितैषियों का परम धर्म है।

इसे त्याग किये बिना सुख और शांति की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। लोभ उस कील के समान है जिसके चुभजाने पर मनुष्य आकुल व्याकुल बना रहता है जब तक वह कील शरीर से नहीं निकलती। तब तक मनुष्य को चैन शांति नहीं मिलती। लोभ रूपी कील के आत्मा में चुभे रहने पर आत्मा क्या कभी शांति की श्वास ले सकता है नहीं कभी नहीं हरगिज नहीं। संसार में किसी भी बड़ते हुए विद्वान् विवेकी धीमान् एवं श्रीमान् साधु सन्यासी ब्रह्मचारी आदि को पतित करने का यदि कोई अन्य कारण सम्भव न हो तो अन्ततो

लोभ लालच का ही लोग उपयोग करते हैं और अपने मनोभिलाष को सफल कर अति सन्तुष्ट हो जाते हैं इससे यह तो निश्चित निःसन्देह है कि पाप का मूल साधन लोभ ही है इसकी दारुण की निबिड विविध शृंखलाओं से सारी दुनियां बँधी (जकड़ी) हुई है इससे जिन आत्माओं ने अपना मुंह मोड़ लिया है और हमेशा के लिये इसे सर्प की कांचली के समान छोड़ दिया है उन्हीं पवित्र आत्माओं ने ही सच्चे शौच गुण का धारण और पालन किया है ऐसा समझना चाहिए।

इन क्रोध आदि कषायों ने बड़े बड़े तीर्थंकर चक्रवर्ती अर्धचक्री बलभद्र ऋषि यति मुनि इन्द्र अहमिन्द्र आदि को भी नहीं छोड़ा अतएव तीर्थंकर जैसी महान् आत्माओं ने इनका सर्वथा नाश कर ही अविचल असीम सुख का अनुभव किया। इन सबके कहने का तात्पर्य मतलब केवल इतना ही है कि इन क्रोध आदि धूर्त

वैरियों से बचते रहने का सतत प्रयास करते रहना चाहिये क्योंकि इनकी ऐसी आदत (स्वभाव) है कि ये निरन्तर लुक छिप कर यही ताकते रहते हैं कि कब मौका मिले कि हम लोग किसी की आत्मा में अपना अड्डा जमावें ज्योंही ये कषायें आत्मा में स्थान प्राप्त कर लेती हैं त्योंही अपना विकराल रूप प्रगट कर खुद को अपने स्थान भूत आत्मा को और दूसरी आत्माओं को सताने में भयंकरता दिखाये बिना नहीं रहतीं ऐसी दुर्दम दुःखद कषायों से बचते रहने के लिये प्रत्येक आत्मा को चाहिये कि वह सदा अपनी आत्मा को टटोलता रहे देखता रहे जानता रहे कि ये दुष्ट मेरे में प्रविष्ट तो नहीं हो रहे हैं क्योंकि जहां ये एक बार भी प्रवेश कर जाते हैं वहां से फिर इनका निवेश— निकालना) बहुत ही कठिन हो जाता है इन्हीं का काम ही नरक तिर्यञ्च आदि के दुःखों में इस जीव को ले जाकर पटक देना है

अतः हे भव्यों यदि आप तत्वतः नरक आदि के कष्टों से बचना चाहते हैं तो इन कषायों से बचने का निरन्तर उपाय करते रहो एक क्षण भी ऐसा न होने दें जिसमें ये आकर आप की अजर अमर-सच्चिदानन्द ज्ञान घन आत्मा पर अपना धावा बोलकर कब्जा कर लें इन में 'यथानाम तथागुण' वाली बात अक्षरशः मिलती जुलती है अर्थात् इस क्रोध आदि का नाम कषाय है और कषाय का अर्थ है जो आत्मा को कषे दुखी करे यह प्रत्येक संसारी आत्मा का प्रति समय का अनुभूत विषय था; है और भविष्य में जब तक इसका संयोग सम्बन्ध बना रहेगा तब तक इसका (दुःखका) अनुभव होता ही रहेगा ऐसे पीड़ा कारक कषायों का सम्बन्ध सर्वथा छोड़ना ही कल्याण कारक है अतः जो आत्मा कल्याणेच्छु हैं उन्हें तो इनका अन्तकर-नाशकर ही चैन लेना चाहिए जब तक ये आत्मा से हमेशा के लिये

छुटकारा न पालें तब तक प्रयत्नशील बने रहना ही आत्म हितेच्छुओं का आद्य कर्तव्य है।

उत्तम सत्य—अर्थात् भलाई के लिये जो कुछ भी कहा जाय वह सब सत्य ही है उत्तम यह विशेषण है जो यह कहता है कि जिस वचन में किसी भी तरह से किसी को कष्ट पहुंचाने की भावना को पुष्ट न की गई हो। भलाई की भावना से कहा हुआ वचन भले ही सुनने में बुरा मालूम पड़े लेकिन वह झूठ नहीं हो सकता क्योंकि झूठ वचन वही कहा जाता है जिसका नतीजा बुरा हो बुरी भावना से कहा गया हो। संसार में सत्य वचन की बड़ी क़ीमत है। दुनियां का सारा व्यवहार सत्य के बल पर ही चल रहा है। करोड़ों का व्यापार हुण्डी पुरजा आदि के द्वारा सचाई के बुते पर ही हो रहा है। बाजार में वचन की साख पर ही लोग एक दूसरे के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बनाये रखते हैं रुपयों का लेन देन एक दूसरा

का दूसरे देशों के साथ बराबर से रुकावट चला आ रहा है यह सब वाचनिक सत्यता का ही सत्परिणाम है आपने देखा होगा कि लोग अपने यहां पर लाखों रुपये का माल एक मामूली मुनीम के हवाले कर सुख की नींद सोया करते हैं। करोड़ों के जवाहरात एक साधारण परिस्थिति वाले मनुष्य के हाथ में दे देते हैं। अपार धन के खजाने का खजाञ्ची जिसकी मासिक वृत्ति मामूली से भी मामूली होती है बड़े २ राजाओं और महाराजाओं के सुख चैन में मददगार होता है यह सब सत्य का ही प्रभाव है। अगर एक घर में जिसमें दस आदमी हों उनमें एक आदमी सत्य बोलने वाला हो सचाई के पीछे अपने प्रिय प्राणों की भी परवाह न करता हो तो उसके पीछे उसकी सचाई से प्रभावित हो सबके सब सचाई पर ही अटल हो जाते हैं हजार प्रयत्न करने पर भी वे सचाई से पृथक हुआ अब भी हटना नहीं चाहते। सत्य

बोलने वाले पर क्रूर से क्रूर मनुष्य भी विमुग्ध हो जाते हैं उसके अनुगामी बन जाते हैं। सत्य के सच्चे पुजारी दुनियां में बड़ी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। जगह जगह उन्हें सम्मान सहित पूजा जाता है। लोग देवतुल्य उन्हें मानते हैं। सारा संसार उनके बताये हुए मार्ग पर चलता है। उनके यश सौरभ से समस्त संसार सुरभित हो जाता है। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र के नाम को आज भी दुनियां बड़े गौरव के साथ लेती है। इतिहास इस बात का परम साक्षी है कि राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी सत्यवादिता की सुरक्षा में अपना राज्य ही नहीं अपितु अपने प्रिय प्राणों की भी बाजी लगा दी थी जैसा कि एक कवि के दोहे में साफ तौर से जाहिर होता है—

चन्द्र टरै सूरज टरै टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद्र को टरै न सत्य विचार॥

अतः जो इस लोक में यश और परलोक में सुख एवं शान्ति के अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे वचन की सत्यता पर अचल रहें। यह है ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति का साधन भूत व्यवहार सत्यता का यत्किञ्चित दर्शन। जिनकी आत्मा में सांसारिक सुख की वाञ्छा ही नहीं है जो सांसारिक सुख को कर्माधीन होने से विनश्वर समझते हैं उन्हें तो निश्चय सत्य धर्म का ही पालन करना पड़ेगा तभी वे अनिश्वर मोक्ष सुख के अनुभोक्ता हो सकेंगे। निःसन्देह सत्य धर्म संसार समुद्र से पार करने में जहाज के समान है ऐसे सत्यधर्म को अपनी आत्मा में आत्मरूप से जागृत करना जगत के जनमात्र का मुख्य कर्तव्य है सत्यधर्म ही के प्रभाव से इन्द्र अहमिन्द्र भी नत मस्तक हो जाते हैं इतना ही नहीं सत्य धर्म के आराधन से ही प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है। जिन जिन आत्माओं ने

परमात्मदशा को प्राप्त किया है उन सबने इसी सत्य धर्म की साधना एवं उपासना की थी। ऐसे लोकोत्तर धर्म की अभिव्यक्ति में प्रत्येक व्यक्ति को शीघ्रातिशीघ्र लग जाना चाहिये। व्यावहारिक कार्यों की चतुराई तत्परता का उपयोग यदि मनुष्य आत्म साधना में त्रियोग से समर्पित कर दे तो निःसन्देह वह उसमें अभूत पूर्व सफलता प्राप्त कर सकता है। जैसे लौकिक सत्य धर्म से लौकिक कार्यों की सिद्धि सम्भव है वैसे ही पारमार्थिक अलौकिक सत्य धर्म से आत्म सिद्धि भी अति सम्भव है।

उत्तम संयम—षट्काय (छहकाय) के जीवों की हिंसा का त्याग करना और पांचों इन्द्रियों का अपने अपने भिन्न भिन्न विषयों से रोकना अर्थात उन्हें विषयों की तरफ नहीं लगने देना संयम है। उत्तम यह विशेषण है जो यह बताता है कि जिस किसी भी संयम को यह मनुष्य धारण या पालन करे वह दिखावटी

न बनावटी न हो। लोगों को रिझाने अपना भक्त बनाने के उद्देश्य से संयम का पालन नहीं होना चाहिये ऐसा संयम लौकिक प्रतिष्ठा को अवश्य ही बढ़ा देता है लेकिन आत्महित का अभिवर्द्धक कभी भी नहीं हो सकता। संयम की उत्तमता वस्तुतः मुक्ति की प्रापकता ही है अर्थात् जिसके पालन करने से यह आत्मा अनादि कालिक कर्म बन्धनों को उच्छिन्न कर परमात्म अवस्था (जो आत्मा की शुद्ध सिद्ध दशा) को प्राप्त करले इस का नाम ही उत्तम संयम है। यह संयम दो प्रकार का है। (१) पहला इन्द्रिय संयम और (२) दूसरा प्राणि संयम इन्द्रिय संयम में इन्द्रियों को अपने आधीन रखने की प्रधानता है। संसार में इन्द्रियों के विषय भूत स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द ये पाचों इष्ट और अनिष्ट के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

इष्ट विषयों के साथ इस जीव का अनुराग होता है और अनिष्ट विषयों के साथ द्वेष होता है। प्रेम के विषय भूत पदार्थों को प्राप्त करने के लिये ही इस जीव के सारे प्रयत्न जारी रहते हैं। मनोज्ञ-मनोहर प्रिय वस्तुओं की उपलब्धि के हेतु यह आत्मा अयोग्य अनुचित लोकगर्हित कार्यों के करने में भी नहीं चूकता बल्कि ऐसे कार्यों को करते हुए एक महान आनन्द का अनुभव करता है लेकिन यह सब एक मात्र दुःख का ही कारण है सुख का तो इसमें लेश मात्र भी सम्भव नहीं है। कदाचित पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से इसे इष्ट-मनोज्ञ पदार्थों की यत्किञ्चित उपलब्धि भी हो जाय तो यह उन्हें सदा बनाये रखने का उद्योग करता रहता है एक क्षणमात्र भी उन्हें अपने से पृथक नहीं देखना चाहता लेकिन प्रत्येक पदार्थ अपनी कालकृत मर्यादातक ही ठहर सकता है पश्चात उसका नाश पृथक होना

तो निश्चित ही है क्योंकि जो संयुक्त होता है वह नियम से वियुक्त होता है ऐसा कर्म का नियम है इसी बात को एक नीतिकार ने निम्न प्रकार से कहा है। "संयुक्तानां वियोगश्च भवताहि नियोगत" इस तरह से संयुक्त प्रिय पदार्थ के समयानुसार वियुक्त-विलग हो जाने पर यह महान दुखी होता है पूर्वोक्त वर्णन मे यह तो सर्वथा स्पष्ट है कि पदार्थों की प्राप्ति कर्माधीन है स्वाधीन नहीं जो पराधीन हैं वे सुख के साधन त्रिकाल में भी नहीं हो सकते। सुख का साधन स्वाधीन-आत्माधीन है आत्माधीनता आत्म स्वरूप पर ही निर्भर है आत्म स्वरूप की उपलब्धिका साधन संयम ही है अतः इन्द्रियों के इष्ट विषयों का त्याग करना जैसे संयम है वैसे ही अनिष्ट अप्रिय-अमनोज्ञ अरुचिकर चीजों को तो यह अपनी इच्छानुसार चाहता ही नहीं है लेकिन पूर्व जन्मकृत पाप कर्मों के उदय में

आने पर वे अप्रिय पदार्थ अपने आप ही आकर उपस्थित हो जाते हैं उन्हें देखकर यह जीव बड़ा दुखी होता है और चाहता है कि ये चीजें मेरे से जितनी जल्दी दूर हो जांय उतना ही अच्छा है लेकिन यह कैसे हो सकता है पदार्थों का परिणमन किसी भी जीवधारी की इच्छाओं पर निर्भर नहीं है वह तो अपने निश्चित काल पर ही अवलम्बित रहता है। अतः अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति का कारण भूत पाप कर्मों का त्याग करना ही संयम है। इस तरह से इन्द्रिय संयम का संक्षिप्त वर्णन किया। अब प्राणि संयम का वर्णन निम्न प्रकार से है सुनिये!

पांच प्रकार के स्थावरों की और दो इन्द्रिय से लेकर सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के समस्त त्रस जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग करना ही सच्चा प्राणि संयम है अर्थात षटकाय-छहकाय के जीवों की रक्षा की प्रधानता जिस संयम में होती

है वस्तुतः उसी संयम का नाम प्राणि संयम है इस प्रकार का उत्कृष्ट संयम नग्न दिगम्बर साधु जनों के ही होता है जो साक्षात् मोक्ष का कारण है ऐसे संयम को धारण करने वाले मुनि जन ही संसार में सर्व श्रेष्ठ विभुति एवं ऐश्वर्य के अधिनायकों द्वारा भक्ति भाव से पूजे जाते हैं। ऐसे साधुओं की सेवा शुश्रूषा उपासना और आराधना का फल मोक्ष सुख की प्राप्ति है सांसारिक सुखों की प्राप्ति तो आनुसङ्गिक है ही। जो और पूर्वोक्त उत्कृष्ट संयम को धारण करने में असमर्थ हैं उन्हें एक देश संयम का पालन करना चाहिए अर्थात् स्थावर जीवों की हिंसा का अत्याग और त्रस जीवों की हिंसा का त्याग रूप एक देश संयम गृहस्थ का धर्म है इसे पालन किये बिना कोई भी श्रावक नहीं बन सकता। अतः सच्चा श्रावक बनने के लिये एक देश संयम का धारण करना अत्यावश्यक है। इस एक देश

संयम में चार प्रकार की हिंसा में से गृहस्थ के सिर्फ संकल्पी हिंसा का ही त्याग होता है अन्य तीन प्रकार की हिंसा का त्याग नहीं होता क्योंकि संकल्पी हिंसा के बिना तो गृहस्थ का निर्वाह हो सकता है लेकिन आरम्भी उद्योगी और विरोधी हिंसा के बिना श्रावक का कार्य चल ही नहीं सकता चूल्हा चक्की आदि में आरम्भी हिंसा अवश्यम्भावी है। व्यापार आदि में भी हिंसा अवश्य ही होती है। विरोधी शत्रु आदि के साथ युद्ध लड़ाई झगड़ा आदि करना ही पड़ता है अन्यथा जीवन का यथायोग्य रीति से बनाये रखना नितान्त कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। यद्यपि गृहस्थ के स्थावर हिंसा का त्याग नहीं हो सकता है तथापि यह गृहस्थ अनिवार्य स्थावर जीवों की हिंसा को छोड़ कर बाकी के स्थावरों की हिंसा का त्याग का विचार

अवश्य रखेगा यद्यातद्वाप्रमाप सनापनिःप्रयोजन स्थावर जीवों की हिंसा कभी भी नहीं करेगा। निरतिचार देश संयम का समाराधक श्रावक स्वर्ग आदि के सुखों को भोगता है। अतः स्वर्ग मोक्षाभिलाषी पुरुषों को चाहिये कि उक्त दोनों प्रकार के संयम का आराधन करें और करावें इसी में स्वपर कल्याण का होना अवश्य ही निश्चित है।

उत्तम तप धर्म—इच्छाओं का निरोध करना (रोकना) तप है। उत्तम यह तप की विशेषता का परिचायक पद है जो यह कहता है कि जिस तप में ऐह लौकिक या पारलौकिक वैषयिक सुख की वाञ्छा न हो प्रत्युत जिसका साक्षात उद्देश्य मोक्ष ही हो वही तप वस्तुतः आत्मा का धर्म है। इच्छाओं की सन्तति ही संसार की सन्तति का मूल है। प्रत्येक इच्छावान की इच्छायें अनन्त हैं और एक जीव की एक ही इच्छा में संसार भर के सारे पदार्थ समा जाते हैं फिर शेष

अनन्त इच्छाओं की पूर्ति के लिए संसार में कोई पदार्थ रह ही नहीं जाते अतः उन अवशिष्ट इच्छाओं की पूर्ति होना नितान्त असम्भव है इस तरह से जब एक ही जीव की इच्छाओं का पूरा होना सम्भव नहीं है तो अनन्त जीवों की अनन्तानन्त इच्छाओं का भरपूर होना कैसे सम्भव हो सकता है इसी बात को ध्यान में रखकर ही महात्माओं ने इच्छाओं पर विजय प्राप्त की और दूसरों की भलाई को मन में रखकर ही इच्छाओं पर विजय प्राप्ति का उपदेश दिया सिवा इसके आत्मिक सुख की प्राप्ति का दूसरा कोई चारा है ही नहीं यही अनुभूत प्रयोग महापुरुषों ने संसार के दुखी प्राणियों के दुख को दूर करने के लिये अत्युपयुक्त समझ कर उपस्थित किया जो संसार रोग के जड़ मूल से उन्मूलन करने में अव्यर्थ औषधि है बिना इसके उपयोग के इस संसार रोग का नाश होना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं

है अतः जो संसार के दुखों से उन्मुक्त होना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे इस रामबाण औषधोपचार में शीघ्रातिशीघ्र संलग्न हो जांय। आज दुनियां में अनेक मत प्रचलित हैं और उनके मानने वालों की संख्या भी जैनों की अपेक्षा बहुत ही बढ़ी चढ़ी है लेकिन क्या एक जैनमत को छोड़ कर कोई ऐसा मत है जो इतनी गहराई के साथ इच्छाओं के छोड़ने रोकने का उपदेश देता हो अगर च देता है तो हम उसे भी जैनमत ही कहेंगे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि सांसारिक वासनाओं इच्छाओं पर परिपूर्ण विजय प्राप्त करना कराना ही सच्चा धर्म है ऐसे धर्म की उपासना ही प्रत्येक मुमुक्षु का लक्ष्य होना चाहिए। प्राय हरेक मनुष्य इस बात का प्रतिदिन प्रति समय अनुभव करता है कि इच्छा के अनुसार किसी को भी फल की प्राप्ति नहीं होती कदाचित लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से

इच्छानुकूल पदार्थों की उपलब्धि हो भी जाय तो तत्काल ही दूसरी इच्छाएं भी इसके पीछे पड़ जाती हैं जिनकी पूर्ति न होने से यह जीव महान आकुल व्याकुल बना रहता है अतः इच्छाओं का निरोध ही सुख एवं शांति का एक मात्र सफल साधन है। आचार्यों ने इन इच्छाओं के निरोध की दो तरह से बताया है एक तो अन्तरङ्ग और दूसरा बहिरङ्ग अन्तरङ्ग के वर्णन मे आत्मा की ही प्रधानता मानी गई है और बहिरङ्ग के कथन में बाह्य बाहिर की चीजों की मुख्यता का ध्यान रखा गया है इसका खुलासा निम्न प्रकार है सुनिये !

(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग (६) ध्यान ये छह अन्तरङ्ग तप हैं इनका सीधा सम्बन्ध आत्मा से ही है बाह्य पदार्थों से नहीं। अर्थात मन का निग्रह करने में आत्मा की मुख्यता है अन्य की नहीं (१) प्रमाद से (कषाय आदि से) यदि

कोई दोष हो गया हो तो आचार्य आदि गुरु जनों के समक्ष दण्ड आदि लेकर उसे दूर कर देना प्रायश्चित है।

(२) पूज्य पुरुषों का आदर सत्कार करना अर्थात झुक कर उन्हें प्रणाम आदि करना विनय है इससे आत्मा में रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र) आदि महानगुणों का विकास होता है।

(३) रोगी अस्वस्था मुनिजनों की शरीर से सेवा टहल परिचर्या आदि करना अर्थात् उनके कष्टों को दूर करने में उपयुक्त उपायों का उपयोग करना वैयावृत्य है।

(४) ज्ञानार्जन की भावना से ओत प्रोत हृदय से शास्त्र का प्रवचन आदि करना स्वाध्याय है यह स्वाध्याय आत्मस्वरूप की प्राप्ति में बड़ा महत्व रखता है। तत्वज्ञान की अभिवृद्धि स्वाध्याय से ही होती है।

(५) वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करना व्युत्सर्ग है। परिग्रह का त्याग किये बिना संसार का संहार करना अर्थात् मोक्ष का प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है।

(६) ६० चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है। मन की चंचलता से ही यह जीव नाना प्रकार के कष्टों को उठा रहा है इस मन को काबू में करने से ही कष्टों की कथा का अन्त हो जाता है। इन छह अन्तरंग तपों के तपने से आत्मा का निर्विकार स्वरूप प्रगट हो जाता है ये अन्तरङ्ग तप उस वज्र के समान हैं। जिस के उपयोग में लाने पर बड़े २ पर्वत (पहाड़) नष्ट भ्रष्ट-छिन्न भिन्न हो जाते हैं वैसे ही इन प्रायश्चित्त आदि तपों के उपयोग से आत्मा में लगे हुए अनादि काल के कर्मरूपी पर्वत भी लुप्त प्राय हो जाते हैं तपरूपी अग्नि से ही इनका भस्म होना सम्भव है अतः इसका धारण करना

भी जरूरी ही है। अन्तरङ्ग तप का वर्णन करने के बाद वाह्य तप का वर्णन करना भी आवश्यक प्रतीत होता है अतः वहिरंग तप का वर्णन किया जाता है।

(१) अनशन (२) अवमौदर्य (३) वृत्ति परिसंख्यान (४) रसपरित्याग (५) विविक्त शय्यासन (६) कायक्लेश ये छह प्रकार के वहिरंग तप है लौकिक फल की इच्छा न रखते हुए संयम की सिद्धि के लिये रागादि भावों का विनाश करने के हेतु ध्यान के साधने के लिये शास्त्रज्ञान को वृद्धिंगत करने के लिये चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है। (२) संयम को जाग्रत करने संयम को दूषित करने वाले दोषों को दूर करने सन्तोष की सिद्धि स्वाध्याय की अभिवृद्धि और आत्मिक सुख की उद्भूति के लिये स्वल्प आहार लेना अवमौदर्य तप है। (३) भिक्षा को जाते समय कठिन प्रतिज्ञायें करना अर्थात्

एक ही घर जाऊँगा दम्पती (पतिपत्नी) पड़गाहें तो आहार लूंगा आदि के द्वारा विषयों के सङ्कल्प में चित का निरोध करना वृत्ति परिसंख्यान तप है। (४) इन्द्रियों के निग्रह एवं निद्रा के विरोध और शास्त्र स्वाध्याय ध्यान आदि को सिद्ध करने के लिये घृत आदि रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है। (५) शूने मकान आदि में प्राणियों की पीड़ा रहित प्रदेश में ब्रह्मचर्य स्वाध्याय ध्यान आदि के साधने के लिये शय्या और आसन लगाना विविक्त शय्यासन तप है। (६) वृक्षों के नीचे निवास करना आवरण रहित स्थानों में शयन करना नाना तरह की कठिन आसनों को लगाना कायक्लेश तप है। इन वाह्य तपों से भी कर्मों का सम्बर और निर्जरा होती है अर्थात् ऐसे तपों को तपने से नवीन कर्मों का आना बन्द हो जाता है और सञ्चित कर्मों की धीरे धीरे निर्जरा होने लगती है नतीजा यह होता है कि

आत्मा परमात्मदशा को प्राप्त करने में अग्रसर हो जाता है अतः जो परमात्मा बनना चाहते हैं और चाहते हैं कि हम संसार के असह्य दुखों से हमेशा के लिए छूट जांय उनका यह परम कर्तव्य है कि वे उत्तम तप को अपनी आत्मा में जागृत करें तप को जागरूक करने पर ही आत्मा अपने कष्टों का अन्त कर सकता है तप ही एक ऐसा अमोघ अस्त्र है जिसके चलाने पर आत्मा में अनादिकाल से बैठे हुए कर्मशत्रु अपने आप ही छिन्न भिन्न हो जाते हैं और आत्मा आत्मदशा को प्राप्त कर आत्म रूप में ही निरन्तर रमण किया करता है। पर पदार्थ के संबंध का सर्वथा विच्छेद हो जाने से पर रूप परिणति का भी मूलोच्छेद हो जाता है। जिसके कारण यह जीव सर्वदा दुःख पाश में पड़ा रहता है। जब वह बिलकुल ही आत्मा से पृथक् हो जाता है तब ही यह जीव सच्चे सुख का अनुभोक्ता होता है।

उत्तम त्याग धर्म—त्याग का अर्थ है छोड़ना अर्थात जिन पदार्थों के निमित्त से आत्मा में ममता भाव की जागृति होती है उन वस्तुओं का त्याग करना सर्वथा छोड़ना ही त्याग धर्म है। यह त्याग धर्म आत्मा का ही एक असाधारण गुण है अतः आत्मा में ही इसका उद्भव होता है। यह त्याग अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग के भेद से दो प्रकार का होता है। ममता भावों का जो आत्मा के वैभाविक—औपाधिक भाव हैं छोड़ना ही अन्तरंग त्याग है। वहिर्भूत वस्तुओंका का छोड़ना ही वहिरंग त्याग है। त्याग का ही अपर पर्याय दान है अर्थात जिस पदार्थ पर अपना अधिकार स्वामित्व होता है उस पदार्थ को किसी दूसरे योग्य व्यक्ति विशेष को जिसकी आवश्यकता की पूर्ति उस पदार्थों से हो सकती है दे देना ही दान है। यह दान चार प्रकार का है। आहार दान (१) औषध दान (२) अभयदान (३) ज्ञान दान (४)

खाद्य-खाने योग्य-मोदक आदि । स्वाद्य-स्वाद लेने योग्य इलायची लवंग आदि । लेह्य चाटने योग्य रबड़ी आदि । पेय पीने योग्य दुग्ध आदि । चारों तरह की प्रासुक वस्तुओं का भोजन करा देना आहार दान है ।

रोग आदि पीडितों की पीड़ा को दूर करने योग्य औषधों का वितरण करना औषध दान है । भय से भीत पुरुषों को अभय करना अभय दान है अज्ञानियों के अज्ञान को दूर करने के लिये ज्ञानोत्पादक पदार्थों का दान करना ज्ञान दान है । श्रावकाचारों में जगह जगह दान के पात्रदत्ति (१) समदत्ति (२) करुणादत्ति (३) अन्वयदत्ति (४) ये चार भेद बताये गये हैं इनका खुलासा निम्न प्रकार है ।

उत्तम मध्यम और जघन्य के भेद से पात्र भी तीन प्रकार के होते हैं इनमें मुनिजन उत्तम पात्र हैं इन्हें दिया हुआ दान स्वर्ग और

परम्परा मोक्ष का कारण है तीर्थंकर मुनि रूप उत्तम पात्र को दिया हुआ दान तो तद्भव मोक्ष का दाता है जैसे आदिनाथ भगवान को इक्षु रसका आहार दान करने वाले राजा श्रेयांस ने उसी भव से मोक्ष प्राप्त किया। जो मोक्षाभिलाषी पुरुष हैं उन्हें चाहिये कि मुनि जनों को भक्ति भाव से आहार आदि चारों प्रकार के दान से अपनी अभीप्सित भावना को सफलीभूत करें।

मध्यम पात्र देशव्रती श्रावक हैं और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि हैं इन्हें दिया हुआ दान भी विशेष पुण्य का कारण है स्वर्गादि के सुखों की प्राप्ति में इस की प्रधानता मानी गई है अत: जो स्वर्ग आदि के सुखों को भोगने की वाञ्छा रखते हैं उनका यह परम कर्तव्य है कि व्रतीश्रावकों के व्रतों के परिपालन एवं अभिवर्द्धन में कारण भूत आहार आदि सामग्री का दान कर अपने जीवन को सफल

करें यही बात अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों के विषय में भी यथायोग्य दान और तदनुरूप फल की प्राप्ति में समझना चाहिए । साधर्मी बन्धुजनों के कल्याण के हेतु जो कुछ भी आहार वगैरह दिया जाता है वह सब समदत्ति कहाजाता है इनसे इस लोक में यश और पर लोक में सुखसाता की सामग्री की प्राप्ति होती है । दुखी भुखी असह्य रोगी आदि जीवों को देखकर करुणा भावों से उनके कष्टों को निवारण करने के उद्देश्य से आहार आदि करा देना औषधि दिला देना आदि सब करुणा दान है इस दान से विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति होती है जिसके फल से यह जीव बड़ा सुखी रहता है लोक में भी बड़ी प्रतिष्ठा का पात्र बनता है अतः ऐसे दान का करना भी परमावश्यक है ।

अपने वंश के लोगों को निराकुल करने केलिये कौलिक पद्धति को यथोचित रीति

से चलाने के लिये अपने वंश की मान मर्यादा को भी यथा योग्य बनाये रखने के लिये जो कुछ भी दान दिया जाता है उसे अन्वय दत्ति कहते हैं। आज दिन जैन समाज में यत्र तत्र जो स्कूल-पाठशाला-विद्यालय-महाविद्यालय आदि चल रहे हैं वे सब ज्ञान दान में अग्रसर हैं और समाज की अज्ञानता को दूर करने में बहुत कुछ प्रयत्न शील हैं इस सबका श्रेय उन दानशील महानु भावों को ही है जो अपनी गाढ़ी कमाई का उपर्युक्त प्रकार से सदुपयोग कर रहे हैं समाज में ऐसे महानुभावों का बड़ा आदर है और इनका नाम बड़े गौरव एवं प्रतिष्ठा के साथ लिया जा रहा है ऐसे महाशयों से समाज का मस्तक अत्युन्नत है हम यहां प्रसंगवश उन पुण्यवान धनवान पुरुषों से जिन्होंने अभी तक पूर्वोक्त उत्तम कार्यों में अपने बाहुबल से उपार्जित धन का उपयोग न किया हो यह कहे बिना नहीं रह सकते कि

वे भी अपने नश्वर धन को उक्त कार्यों में दान देकर अनश्वर यश का उपार्जन करें इसी में उनकी भलाई है। औषध दान में भी समाज का रुख अच्छा है जगह जगह औषधालयों का स्थापित होना ही उसका प्रबल प्रमाण है। आहारदान और अभयदान की भी प्रथा बहुत पुरानी है जो आज भी समाज में जागृत है यह सब त्याग धर्म ही है इसको निरन्तर पालन करते रहना प्रत्येक मानव का धर्म है।

कुछ भाई यह कहा करते हैं कि भाई दान करना तो श्रीमान् पुण्यवान भाग्यशालियों का ही काम है हम निर्धन क्या कर सकते हैं। इत्यादि। ऐसा ख्याल करना भूल से खाली नहीं है निर्धन गरीब साधारण स्थिति वाले लोग भी स्वशक्ति के अनुसार दान करने के पूर्ण अधिकारी हैं वे भी अपनी शक्ति को न छिपाते हुए आहार आदि चारों दान कर सकते हैं जैसे वे अपने लिए जो कुछ भी भोजन

तैयार करते कराते हैं उसमें से एक आधी रोटी निकाल कर किसी भूखे आदमी को खिलाकर और ठण्डा पानी पिलाकर आहार दान का पुण्यार्जन कर सकते हैं इसी प्रकार से किसी रोगी अतिदुःखी मनुष्य को कोई औषधि आदि देकर या उसकी अपने तन मन से सेवा टहल करके भी औषधि दान के फल के भागी बन सकते हैं।

अभयदान के लिए भी अपनी दैनिक आय में से १ एक पैसा प्रति दिन निकाल कर रखते जांय तो महिने भर में ॥) आठ आना और वर्ष भर में ६) छह रुपयों का संग्रह कर के किसी भी जीव की रक्षा में लगा कर अभयदान के अनुपम पुण्य को प्राप्त कर सकते हैं।

ज्ञानदान के विषय में भी अपनी योग्यता के अनुकूल कभी किसी विद्यार्थी को पुस्तक ले देना यदि उसके पास पट्टी पेंसिल न हो तो अपने ही बच्चे के समान उसे पट्टी आदि

खरीद देना। किसी बोर्डिंग हाउस आदि में अपनी सहायता से भरती करा देना। स्कूल की फीस आदि दे देना हाथ खर्च के वास्ते कुछ मासिक वजीफा आदि बाँध देना। पाठशाला आदि में मासिक चन्दा देना। एक दिन का पाठशालीय छात्रों का भोजन खर्च अपनी ओर से देकर पाठशाला के कार्य में मददगार बनना आदि ज्ञान में निरत रहकर अज्ञानान्धकार के दूर करने में अति पवित्र भावना रखना इत्यादि कार्यों से भी ज्ञान दान का महान फल प्राप्त होता है। यह तो प्रायः सभी जानते मानते और करते हैं कि अपनी कुछ भी शक्ति नहीं है तो भी अपनी सन्तान को शिक्षित बनाने के लिये जैसे बनता है वैसे कुछ न कुछ पैसे का बचाव कर उसे पढ़ाया करते हैं वैसे ही अगर दूसरे असहाय पुरुषों की सन्तान के पढ़ाने में सहायता करें तो महान पुण्य होगा क्योंकि ज्ञान के समान

इस संसार में सुख का कारण अन्य नहीं है ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जिसके प्राप्त हो जाने पर यह आत्मा अपना और पर का कल्याण करने में पूर्ण रूपेण समर्थ हो सकता है अतः ज्ञान दान ही सब दानों में श्रेष्ठ है।

उत्तम आकिञ्चन्य धर्म—सर्वथा परिग्रह मात्र का त्याग करना आकिञ्चन्य है यह भी आत्मा का स्वभाव होने से धर्म है उत्तम यह इसका विशेषण है जो इसकी उत्कृष्टता उत्तमता का द्योतक है अर्थात् जिस त्याग में सांसारिक विषयों को प्राप्त करने की भावना न हो बल्कि जिन्हें संसार परिभ्रमण का मूल कारण जानकर ही त्यागने योग्य समझकर त्याग किया गया हो। इसी का नाम ही उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है। इस धर्म को धारण करने वाले धर्मात्माओं के समीप में 'तिलतुष मात्र' परिग्रह नहीं होता क्योंकि परिग्रह के होने पर उसकी रक्षा की भावना होती है पर पदार्थ के साथ ममत्व होने

पर ही रक्षा की भावना उद्भूत होती है अतः ममत्व बुद्धि का होना ही परिग्रह है इसी बात को भगवान उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र, में "मूर्छापरिग्रहः" इस सूत्र द्वारा प्रगट किया है अर्थात् (मूर्छा-ममेदं बुद्धिः) यह मेरा है ऐसी बुद्धि का होना ही परिग्रह है केवल बाह्य वस्तुओं का होना ही परिग्रह नहीं है यदि बाहिरी चीजों को ही परिग्रह माना जाय तो जिन लोगों के पास बाहिरी पदार्थ बिलकुल ही नहीं हैं वे बहुत ही ऊँचे दर्जे का आकिञ्चन्य धर्म धारण करते हैं ऐसा मानना पड़ेगा इस विचार से तो पशु पक्षी कीड़े मकोड़े निर्धन गरीब जिनके शरीर पर जरा भी कपड़ा नहीं है बिलकुल नग्न रहने वाले जंगली भील आदि सभी आकिञ्चन्य धर्म के धारक कहे जायेंगे अतः बाह्य वस्तुओं के न होने का नाम आकिञ्चन्य धर्म नहीं है किन्तु बाह्य पदार्थों के संग्रह करने की भावना का न होना ही

आकिञ्चन्य धर्म है बाहिरी तौर पर बेहद चीजों के हाजिर होते हुए भी उनके साथ ये चीजें मेरी हैं मैं इनका मालिक हूँ इस प्रकार के परिणामों का न होना ही सच्चा आकिञ्चन्य धर्म है इस दृष्टि से तो जिनके पास बिल्कुल ही चीजें नहीं हैं लेकिन अन्तरंग में दुनिया के तमाम पदार्थों के इकट्ठ करने की भावना बनी हुई है वे सबसे बड़े ऊँचे दर्जे के परिग्रही हैं और जिनके पास अपार वैभव है अटूट सम्पत्ति है बेहद दुनिया दारी की चीजें हैं लेकिन फिर भी जो उन्हें अपना नहीं समझ रहे हैं जिन के दिल में जरा भी उन चीजों के साथ प्रेम और मुहब्बत नहीं है अपनापन नहीं है वे ही ऊँचे दर्जे के अपरिग्रही हैं ऐसा समझना और मानना जरा भी अनुचित नहीं है अतः बाहिरी चीजों के साथ जिन का आत्मा के स्वभाव में मिलजुल कर स्थित होना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है उन्हीं

का सर्वथा त्याग करना ही उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है।

आचार्यों ने परिग्रह का वर्णन करते हुए दो भेद बताये हैं अन्तरंग और बाह्य। अन्तरंग १४ चौदह प्रकार का और बाह्य १० प्रकार का इस तरह से परिग्रह के कुल भेद २४ चौबीस होते हैं इनका खुलाशा वर्णं निम्न प्रकार से है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, राग द्वेष, हास्य, शोक, भय, रति, अरति जुगुप्सा वेद ये चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह हैं इनका आत्मा के साथ ही साक्षात् सम्बन्ध है यह अनादिकाल से आत्मा के साथ चला आ रहा है इन्हीं का नाम ही विभाव भाव है इन रूप से प्रवृत्ति करने वाली आत्माओं की परिणति को ही वैभाविकी परिणति कहा जाता है जब तक यह आत्मा इनके वशीभूत रहता है तब तक अनन्त संसारी रहता है इनका

त्याग करते ही अनन्त संसार का अन्तकर अनन्त अविनाशी मोक्ष सुख का भोक्ता बन जाता है अतः जो मुमुक्षु हैं मुक्त होना चाहते हैं उन्हें उपर्युक्त दोषों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन धान्य, दासी, दास, कुप्य, भाण्ड, ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं क्षेत्र-जमीन जागिर आदि वास्तु-रहने के मकान आदि।

हिरण्य—रुपया पैसा मुहर आदि मुद्रित सिक्के। सुवर्ण सोने के अलंकार आभूषण आदि।

धन—गो (गाय-बैल) महिषी (भैंस) महिष (भैंसा घोड़ा हाथी आदि सवारी के जानवर वगैरह।

धान्य—अन्न आदि भोज्य पदार्थ। दासी नौकरानी-सेविका आदि। दास-नौकर सेवक

आदि। कुप्य—बंडा खोडिया आदि। भांड-बर्तन थाली लोटा आदि खाने पीने के काम में आने वाले बर्तन आदि उपर्युल्लिखित १० दश प्रकार के बाह्य पदार्थों का सर्वथा त्याग देना ही उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है। इन बाह्य वस्तुओं का त्याग किये बिना अपरिग्रहता की स्थिति कायम नहीं रह सकती क्योंकि इन बाह्य वस्तुओं के निमित्त से अन्तरंग भावों में विकृति का होना बहुत कुछ सम्भव है लोक में भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि "न होगा बांश तो न बजेगी बांशुरी" अर्थात प्रकृत में जब ये बाह्य वस्तुयें ही नहीं होंगी तो इनको सम्हालने सुरक्षित रखने की भावना ही पैदा नहीं होगी जो आत्मा में उक्त चीजों के रक्षक के प्रति राग और भक्षक के प्रति द्वेष को बढ़ाने वाली है अतः अन्तरङ्ग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का छोड़ना ही उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है सर्व प्रकार के परिग्रह का कारण मूलसामग्री के होते हुये

भी अपनी आत्मा को ऐसा समझना कि हमने जब नवीन जन्म धारण किया था तब हम कुछ भी रुपया पैसा आदि साथ में नहीं लाये थे और जब मरेंगे तब भी जैसे आये थे वैसे ही बिना कुछ रुपया पैसा लिये ही जांयगे यहां पर जो कुछ भी धन सम्पत्ति का अर्जन करेंगे वह सब यहां का यहां ही छोड़ जांयगे इन चीजों को ले जाने की भी धृष्टता अगर कोई जीव करना चाहे तो यह धृष्टता भी उसकी कभी सफल नहीं हो सकती क्योंकि ऐसी धृष्टता न तो आज तक किसी की सफल हुई है और न हो सकेगी यही बात नीचे के दोहा छन्द से साफ तौर से जाहिर होती है।

आये तब लाये नहीं-साथ कछू नहीं जाय।
बिच पायो बिच ही रह्यो याते प्रीति नशाय॥

अतः इस आत्मा के जब यह शरीर भी जिसमें यह आत्मा रह रहा है साथ में नहीं

जाता है तो धन धान्य, स्त्री, पुत्र आदि सर्वथा अलग रहने वाले पदार्थ इसके साथ कैसे जा सकते हैं ऐसा समझकर ही इनका त्याग करना हो तो आकिञ्चन्य धर्म है। हे भव्यात्मा-ओं थोड़े दिन के जीवन के वास्ते आप अपने अमूल्य अनुपम आत्मा को पर पदार्थ के निमित्त से पाप और पुण्य रूपी गहरी मिट्टी के लेप मे लिप्त कर क्यों संसाररूपी अगाध अथाह समुद्र में डुबो रहे हो ! चेतो ! सावधान हो ! त्रियोग मे इस उत्तम आकिञ्चन्य धर्म को धारण करो ! और शुद्ध सच्चिदानन्द ज्ञान धन आत्म स्वरूप को प्राप्त करो जिससे अनन्तकाल तक अनन्त अगाध आत्मिक सुख सागर में ही निमग्न रह सको।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म-आत्मा में ही चरण रमण करते रहना ही ब्रह्मचर्य है उत्तम यह ब्रह्मचर्य की अति निर्मलता का प्रकाशक पद है जो यह प्रकाश करता है कि जो आत्मा निरन्तर आत्म

स्वरूप में ही चर्या किया करता है बाह्य पौद्‌गलिक पदार्थ का जिसमें लेश मात्र भी सम्बन्ध नहीं पाया जाता हो ऐसी आत्मिक परिणति का का नाम ही ब्रह्मचर्य है और यही आत्मा का प्राकृतिक स्वभाव होने से धर्म है। जब तक यह आत्मा पर पदार्थों में ही रमण करता रहता है तब तक वह ब्रह्मचर्य का धारक धर्मात्मा नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ या तो आत्मा में राग पैदा करते हैं या द्वेष पैदा करते हैं। राग और द्वेष रूप परिणति के होने पर आत्मा रागी और द्वेषी हो जाता है जिससे आत्मा इस संसार रूपी महागर्त (बड़े भारी गड्ढे) में जा गिरता है इसमें से अपना उत्थान करना प्रत्येक आत्मा को बड़ा ही कठिन हो जाता है यही अब्रह्मचर्य नाम का महापाप या महाअधर्म है। ऐसे महान् पाप से आत्मा का छुटकारा कर लेना ही महान उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है। यह ब्रह्मचर्य

धर्म स्थूल रूप से दो प्रकार का है एक देश ब्रह्मचर्य और सर्व देश ब्रह्मचर्य । अपनी विवाहिता पाणिग्रहीता पत्नी को छोड़कर शेष संसार की समस्त स्त्रियों में माता बहिन और पुत्री जैसा व्यवहार करना ही एक देश ब्रह्मचर्य है इसमें एक स्पर्शन इन्द्रिय जनित विषय सुख की पूर्ति का साधन एक मात्र स्वस्त्री को ही माना गया है इस तरह से जो अपनी काम वासना को पूरा कर संतोष धारण करते हैं वे स्वदार सन्तोषी ब्रह्मचारी कहे जाते हैं ऐसे ब्रह्मचारी भी ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सुख के भोक्ता होते हैं।

जब स्वस्त्री का सेवन एक मात्र काम पीड़ा का प्रतिकार ही है तब इसे ब्रह्मचर्य क्यों कर कहा जाना चाहिये यदि ऐसा प्रश्न कोई करने लग जाय तो इसके उत्तर में यही कहना उचित प्रतीत होता है कि हे भाई आप प्रवृत्ति में मत जाइये प्रवृत्ति में धर्म नहीं है धर्म तो

निवृत्ति में ही है यह निवृत्ति तो स्वस्त्री सेवक के भी पाई जाती है जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि स्वदार संतोषी भी अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़कर शेष को माता बहिन और पुत्रीवत् मानता है अतः इसके परस्त्री का त्याग रूप ब्रह्मचर्य होता ही है ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले धर्मात्मा ब्रह्मचारी भी बड़े २ देवों से पूजित हो चुके हैं वर्तमान में भी ऐसे ब्रह्मचारी जन लोक में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं उनके वचनों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है अपने पद के अनुसार वे भी पूजे जाते हैं यह सब स्वदार सन्तोष और परदार परित्याग का ही सुफल समझना चाहिये। स्त्री मात्र के त्याग में सर्वथा असमर्थ जनों को सुमार्ग पर चलाये रखने के लिये ही आचार्यों ने परस्त्री का त्याग का उपदेश दिया है जो एक मात्र निवृत्ति रूप ही है।

एक देश ब्रह्मचर्य पालन करने वाले श्रावकों को भी कामतीव्राभिनिवेश अर्थात् काम क्रीड़ा का निरन्तर अभिप्राय: बनाये रखने का त्याग करना चाहिये क्योंकि इसका त्याग किये बिना शारीरिक सम्पत्ति की रक्षा नितान्त असम्भव है बिना शारीरिक सम्पत्ति के शरीर की रक्षा होना अति कठिन है और जब शरीर ही स्वस्थ एवं निरोग बलवान नहीं रहेगा तब धर्म साधन कैसे हो सकेगा क्योंकि नीतिकारों ने भी धर्म साधन का मूल कारण शरीर ही है ऐसा बताया है वे कहते हैं 'शरीर माद्यं' खलु धर्म साधनम्' अर्थात् शरीर ही निश्चय से धर्म का प्रधान साधन है जिन्होंने अपनी शारीरिक सम्पत्ति की रक्षा की है वस्तुतः उन्होंने ही गृहस्थ होते हुए भी सच्चे एक देश ब्रह्मचर्य धर्म का पालन किया है। एक विद्वान ने उक्त नीति वाक्य में प्रयुक्त हुए धर्म शब्द की जगह पर सर्व शब्द का प्रयोग

कर "शरीर माद्यं खलु सर्व साधनम्" कह कर यह अभिप्रायः व्यक्त किया है कि शरीर सिर्फ धर्म का ही मुख्य साधन नहीं है बल्कि सांसारिक जीवन में जीवनोपयोगी तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति का मूल साधन शरीर ही है अतः शरीर की रक्षा करना शारीरिक सम्पत्ति की रक्षा पर ही निर्भर है जो एकमात्र ब्रह्मचर्य पर ही अवलम्बित है अतः एक देश ब्रह्मचर्य का निर्दोष पालन करना प्रत्येक कर्म शील एवं धर्मशील मानव का मुख्य कर्तव्य है। जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते अर्थात् जो दुराचारी हो जाते हैं उनकी इस लोक में क्या क्या बुरी हालत होती है यह आप लोगों से छिपी नहीं है प्रथम तो उनका शरीर ही अनेक रोगों का घर बन जाता है तपेदिक जैसी भयंकर व्याधियां उनके शरीर को घेर लेती हैं जिसमें हजारों रुपयों को पानी की तरह बहाने पर भी यथेष्ट स्वास्थ्य लाभ नहीं होता ऐसा

बीमार खुद दुखी होता और अपने इष्ट कुटुम्बी जनों को भी दुखी करता है। इससे आगे बढ़े हुये कदाचारी अपने ही कदाचार के कारण पंचदण्ड राजदण्ड आदि बड़े बड़े दण्डों के कष्टों को भोगते हुये देखे जाते और सुने जाते हैं। इन महान कुशील पाप को सेवन करने वाले जब यहां पर इतने दुःखी होते हैं तो परलोक में तो इनके दुःखों का कोई ठिकाना ही नहीं रहता नारकीय यातनाओं का चित्र जब हमारे मानस पटल पर खिंच जाता है तब हमारे दुःख का कोई पारावार ही नहीं रहता लेकिन जो पापी इस पाप के बल से नरक में जाकर जन्म लेते हैं उनके दुखः का क्या ठिकाना अतः ऐसे कुशील पाप का त्याग कर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करना ही कल्याणकारी है। इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही सेठ सुदर्शन को शूली का सिंहासन बन गया था। इस वीर सुदर्शन ने रानी के हाव भाव कटाक्ष पातों की

ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया जब रानी इसे सब तरह से रिझाने में असफल रही तब इससे नाना प्रकार के भयंकर मिथ्या-झूठे उत्पात रचे जिनके कारण राजा ने सेठ सुदर्शन को शूली पर चढ़ाया लेकिन इसके अखण्ड ब्रह्मचर्य के बल से वह शूली सिंहासन बन गई इत्यादि । ऐसे ब्रह्मचर्य के माहात्म्य को प्रगट करने वाले अनेकों उदाहरणों से शास्त्र सागर उत्तरंगित है सती सीता रावण के आधीन रहीं । रावण ने इन्हें तरह तरह के प्रलोभनों से अपने वश में करना चाहा लेकिन यह बीर बाला अपने पातिव्रत्य में सुमेरु के समान अचल रही और दुनिया को यह साबित कर दिखाया कि अबलायें भी अपने अनुपम आत्मिक बल से बड़े २ बीर योधाओं को भी जो अपने चारित्र से पतित हो रहे हैं सच्चे चारित्रवान बना देती हैं और अपने निर्मल यश को सारे संसार में फैला देती

है। अग्निकुण्ड का जलकुण्ड हो जाना यह एक मात्र अखण्ड ब्रह्मचर्य का ही महत्व है। यह सब एक देश ब्रह्मचर्य के माहात्म्य का वर्णन है जो सर्वदेश ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उनके प्रभाव का कथन मानवीय जिह्वा से त्रिकाल में सम्भव नहीं है चार ज्ञान के धारी गणधर भगवान भी परिपूर्ण रूप से इस महान अतुल बलशाली ब्रह्मचर्य के महत्व का वर्णन नहीं कर सकते फिर अन्य अल्प ज्ञानियों की तो बात ही क्या है।

परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का साक्षात फल मोक्ष ही है। जिन्होंने इस सकल ब्रह्मचर्य का पालन किया वे सब इस संसार समुद्र से पार हो गये। इस कलिकाल में भी उनकी भक्ति के प्रवाह में बहने वाले अर्थात उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले मुनिजन ही परिपूर्ण ब्रह्मचर्य के धारक हुए हैं जो यत्र तत्र इस भारत वर्ष में विहार करते थे भगवान् कुन्दकुन्द

स्वामी भगवान समन्तभद्र स्वामी भगवान अकलंकदेव भगवान् पूज्यपाद भगवान् विद्यानन्द आदि ऐसे अखंड ब्रह्मचर्य के धारक महापुरुष हो गये हैं जिनकी सच्ची भक्ति से भक्त पुरुष अपनी आत्मा को अति पवित्र करने में समर्थ होते हैं। यह सब ब्रह्मचर्य का ही महत्व है।

रत्नत्रय का स्वरूप

सम्यग्दृग्बोध चारित्र-त्रितयं धर्म उच्यते।
मुक्तः पन्थाः स एवस्यात् प्रमाणपरिनिष्ठितः
॥ १ ॥

अर्थात सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों को धर्म कहते हैं इन तीनों की एकता ही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है जो प्रमाण से सिद्ध है। यह धर्मरूप रत्नत्रय भाव रत्नत्रय और द्रव्य रत्नत्रय के भेद से दो प्रकार का है इनमें सबसे पहले भाव

रत्नत्रय के स्वरूप का वर्णन भेदों सहित किया जाता है। भाव रत्नत्रय के तीन भेद हैं (१ ला) सम्यग्दृष्टिपन, (२ रा) यथार्थ ज्ञानानुभव (३ रा) ज्ञानानुरूपाचरण।

(१) सम्यग्दृष्टिपन उसे कहते हैं जिसमें श्रुतज्ञान के बल से परोक्ष रूप अपनी आत्मा का यथार्थ श्रद्धान—विश्वास व रुचि हो कि मेरी आत्मा यही है वही मैं हूं अन्य नहीं हूं यही सम्यग्दृष्टिपन है। इसमें आत्मा की दृढ़ श्रद्धान की प्रधानता ही मुख्य है।

(२) सम्यग्ज्ञान श्रुत ज्ञान से नय व प्रमाण से सिद्धांत शास्त्रों में महर्षियों ने जैसा चैतन्य स्वरूप आत्मा का वर्णन किया है कि यह आत्मा अनन्तानन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है त्रिकाल में भी अपने अचिन्त्य चैतन्य का परित्याग नहीं करता अनन्तानन्त पर्यायों सहित परिणमन करते हुए भी अपनी अनुभूति

तथा परानुभूति का उदासीनरूप ज्ञातापन ही सम्यग्ज्ञानीपन है इसे ही यथार्थ ज्ञानानुभवन कहते हैं जो प्रत्येक आत्मा को उपादेय है।

(३) पूर्वोक्त श्रद्धा रुचि सहित अनुभव किये हुए अर्थात् आत्म रूप से जाने गये आत्म पदार्थ में द्रव्य गुण पर्याय सहित चैतन्य पदार्थ के समस्त गुणों में ही स्थिर (अडोल) होना चलाचल न होना ही सम्यकचारित्र है इसीका नाम ही ज्ञानानुरूपाचरण है जो साक्षात् मोक्ष का दाता है। उपर्युक्त तीन प्रकार की परिणति को ही भावरत्नत्रय कहते हैं।

द्रव्यरत्नत्रय सामान्यतः तीन तरह का होता है और विशेषतः बिमनौ बीस और नौ अर्थात् (उनतीस २६) प्रकार का होता है जिसको जैनेतर लोग विष्णव' इस नाम से कहते हैं यथार्थतः विष्णव नाम का सार्थक अर्थ निम्न प्रकार से भी माना गया है वि-स्नव अर्थात्

विशेष रूप से स्नान करना क्योंकि संसारी आत्मा के साथ में अनादि काल से कर्म मल कलंक (जो ज्ञानावरणादि रूप है) लगा हुआ चला आ रहा है उसे सत् चारित्र रूप निर्मल जल से खूब धोडालना अर्थात् विसनौ (बीस नौ) कुल से उनतीस प्रकार के सम्यक् आचरण हैं उनका पालन करके राग द्वेष रूप भावकर्म मल कलंक को धोडालना जिससे आत्मा बिलकुल ही निर्मल बन जाता है हमेशा के वास्ते पवित्र हो जाता है भगवान बन जाता है भगवान बनने को ही संसारी जीव वैष्णव धर्म मानते हैं इस मत्र का सच्चा अभिप्राय नीचे लेख के मुताबिक है।

उपर्युक्त विसनव भेदों के मूलतः तीन भेद हैं (१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान (३) सम्यकचारित्र । इनमें से (१ ले) सम्यग्दर्शन के ८ भेद होते हैं। (२ रे) सम्यग्ज्ञान के भी

८ भेद होते हैं और (१३) सम्यक चारित्र के १३ तेरह भेद होते हैं। ये सब मिलकर २९ भेद हो जाते हैं इन्हीं को वैष्णव मतानुयायी लोग 'त्रिरत्न' शब्द से कहते हैं। इन का विस्तार से वर्णन निम्न प्रकार है। सुनिये! सम्यग्दर्शन आठ अंगों को ही ८ आठ प्रकार का सम्यग्दर्शन माना गया है।

सम्यग्दर्शन के ८ आठ भेदों का स्वरूप

(१) निःशङ्कित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्सित (४) अमूढदृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य (८) प्रभावना

(१) निःशङ्कित—शंका, भय, भीति, साध्वस ये सभी शब्द एकार्थवाची हैं। अपनी आत्मा में ऐसा अटल विश्वास हो कि हमारी आत्मा अजर और अमर है क्योंकि यदि आत्मा अजर और अमर नहीं होती तो पुण्य कर्म के

निमित्त से तो स्वर्ग में और पाप कर्म के निमित्त से नरक में कौन जाता। इन प्रमाणों से आत्मा का मरण त्रिकाल में भी संभव नहीं है कारण आत्मा कोई ऐसी चीज नहीं है जो किसी शस्त्र आदि से कट जावे हथोड़ा से टूट जावे जलाने से जलजावे पानी में भिगोने से भीग जावे गर्मी में सुखाने से सूख जावे आत्मा तो एक ऐसा द्रव्य है जो अरूपी अमूर्तिक होने से न तो किसी के पकड़ने में आता है और न किसी के चखने में आता है और न किसी के सूंघने में आता है और न किसी के चर्म चक्षुओं से देखने में आता है और न किसी के कानों से सुनने में ही आता है न तो यह किसी से बांधा जाता है और न किसी से छोड़ा जाता है न तो यह जन्मता है और न मरता ही है न बालक होता और न युवा होता न बूढ़ा होता फिर इसके मरने की शंका करना बिलकुल ही नाजायज है

अनुचित है । अज्ञानता से भरी हुई है । देखो जैसे आज अपन लोग इस मकान में किराये से रह रहे हैं यदि मकान मालिक अभी ही आकर यह कहने लगे कि इस मकान को इसी वक्त खाली कर दो किसी दूसरे मकान में चले जावो यह सुनते ही अपन लोग बड़े आकुल व्याकुल हो उठते हैं बड़े दुख पूर्वक मकान को छोड़ते और दूसरे मकान में बिना इच्छा के ही चले जाते हैं वैसे ही यह जीव भी अपने आयु कर्म के पूर्ण हो जाने पर इस शरीर को छोड़कर किसी दूसरे शरीर में (जिसमें जाने का निश्चय इस जीव ने पूर्व जन्म में ही आयु के बन्ध के रूप में कर लिया था) चला जाता है लेकिन इसकी भी मुद्दत होवो ही है कि इतने वर्षों तक ही इस शरीर में तुम रह सकोगे तत्पश्चात् इसे भी छोड़कर तुम्हें फिर किसी दूसरे शरीर में जाना पड़ेगा बस इसी का नाम

ही जन्म और मरण है जिसमें इस आत्मा का फिरना घूमना चक्कर लगाना पड़ता है इसमें शंका करना ही मिथ्या दर्शन है और इन अवस्थाओं में रहने वाली आत्मा के विषय में निःशंक रहना ही सम्यग्दर्शन है। जिसे निःशंकित सम्यग्दर्शन कहते हैं।

वैष्णव सम्प्रदाय के भगवद्गीता नामक ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में अध्यात्मवाद का निरूपण करते हुए आत्मा के विषय में निम्न प्रकार से कितने सुन्दर शब्दों में भावों को व्यक्त किया है सुनिये !

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥१॥

अर्थात् शस्त्र इस आत्मा को छेद नहीं सकते अग्नि इस आत्मा को जला नहीं सकती जल इस आत्मा को भिगो (गीला) नहीं

सकता । हवा इस आत्मा को सुखा नहीं सकती उड़ा नहीं सकती । तात्पर्य यही है कि आत्मा हर हालत में रहते हुए भी अजर और अमर है ऐसी अचल श्रद्धा का होना ही प्रथम निःशंकित सम्यग्दर्शन का अङ्ग है । संसार में जो सात प्रकार के भय माने गये हैं वे भी सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते । कदाचित भी इन सप्त भयों की ओर सम्यग्दृष्टि का झुकाव नहीं होता । वे भय ये हैं । (१) इह लोक भय (२) परलोक भय (३) मरण भय (४) वेदना भय (५) अरक्षाभय (६) अगुप्तिभय (७) अकस्मात् भय यही सात भय नीचे के छन्द में बताये गए हैं ।

दोहा-छन्द

इस भव भय परलोक भय मरण वेदना जात ।
अनरक्षा अगुप्तिभय अकस्मात भय सात ॥१॥

(१) इसभव का भय—सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि मैं अरूपी आत्मा हूं। मेरे न जन्म है और न मरण होता है सिर्फ ये बातें शरीर में ही होती है जो आत्मा से सर्वथा भिन्न है जड़ है। रूपी है। पूरण और गलन स्वभाव वाला है अतः इस भव का भय मैं क्यों करूं मैं तो स्वभाव से ही निर्भय हूं। मेरे तो त्रिकाल में भी भय नहीं हो सकता।

(२) परलोक भय—आत्म श्रद्धावान पुरुष सोचता है कि जो जैसा करेगा वो वैसा ही लेगा। इसमें भय करने की आवश्यकता ही क्या है। अच्छा कार्य करेगा तो परलोक में अच्छा ही फल पायेगा बुरा काम करेगा बुरा ही फल प्राप्त करेगा। यह एक अटल नियम है कहा भी है—

'पहले किया सो पायरे भाई ये ही है निरना।
अब जो करेगा आगे मिलेगा तातें धर्म करना॥

इसका निष्कर्ष यही है कि "जैसा बोवेगा बावा वैसा पायेगा बावा" अतः हे प्राणियो कार्य करने के पहले ही सोच विचार करो कि जो कार्य मेरे द्वारा किया जाने वाला है वह अच्छा है या बुरा ! यदि अच्छा है तो इसका फल भी अच्छा ही होगा अतः इसे ही करना चाहिए ऐसा करने से परलोक का भय हो ही नहीं सकता ।

(३) मरणभय—विचार शील पुरुष तो यही विचार करते हैं कि जब आत्मा को महा पुरुषों ने अजर और अमर बताया है तब मरने का भय कैसे और क्यों करना चाहिये । जो मरने का भय करता है वही तो मिथ्यादृष्टि कहा जाता है । सिद्धांत शास्त्रों में अनेकों दृष्टान्तों द्वारा आत्मा को अजर और अमर सिद्ध किया गया है । सिर्फ एक पर्याय से दूसरी पर्याय में जाने का क्या डर करना यदि डरना ही है तो मनुष्य मात्र को पाप से

ही डरना चाहिए जो इस जीव को दुःख सागर में पटक देता है जो पुण्यात्मा हैं जिन्होंने इस जन्म में पुण्य कार्य किये हैं उनका फल तो उन्हें उत्तम देव इन्द्र आदि पर्यायों में पहुंचने पर ही प्राप्त हो सकेगा अतः उन्हें मरण से डरना नहीं चाहिए बल्कि मरण को अपना महोपकारी मानना चाहिए जो इस जीव को यहां से परलोक के सुखों में पहुंचा देता है अतः मरण का भय कदापि नहीं करना चाहिए किन्तु मरते समय अपने भावों को पवित्र बनाना चाहिए कषायों को मन्द करना चाहिए जिससे यह आत्मा परलोक में उत्तम पर्याय उत्कृष्ट कुल और लोकत्तर जैन धर्म को प्राप्त कर आत्मोद्धार में संलग्न हो सके इत्यादि।

(४) वेदनाभय—पूर्व जन्म में किये हुए कर्म अपना फल दिये बिना जावेंगे ही नहीं

वे तो अपने समयपर उदय में आकर रस देवेंगे ही सामान्य रूप से तो वे टल ही नहीं सकते हां यदि विवेकी पुरुष अपने विवेक से कामलें धैर्य रखकर चारित्र का आराधन करें तो उन कर्मों को असमय में भी नष्ट भ्रष्ट कर सकते हैं अतः वेदना के उपस्थित होने पर उससे डरना नहीं किन्तु बड़ी धीरता और वीरता से उसको सहलेना ही सच्चे श्रद्धालुओं का कर्तव्य है। ऐसा करने से यह आत्मा बराबर अपने धर्म पर आरूढ़ रहता है दृढ़ रहता है।

(४) अनरक्षाभय—हे आत्मन् तू विचार तो कर कि क्या कभी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का साथी हुआ है और हो सकता है क्या? न कोई किसी का नाती है न साथी है यह तो एक मात्र विडम्बना है। न कोई किसी को मार सकता है और न कोई किसी को बचा

सकता है। तू ने आयु के त्रिभाग में जितनी आयु बांधी होगी और उसमें जो निमित्त केवली भगवान के ज्ञान में झलका होगा उसमें न तो घटती ही सकती है और न बढ़ती ही हो सकती वह तो उतनी की उतनी ही रहेगी कारन केवली के ज्ञान में जो आया है वही सत्य है। वह जरा भी टल नहीं सकता। ऐसा विचार कर धर्म पर दृढ़ रहना निश्चिन्त रहना ही हितकर है अयन्था नहीं।

(६) अगुप्तिभय—जब संसार में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ रूप कदापि हो ही नहीं सकता ऐसा भगवान सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव का सदुपदेश है तो अगुप्ति आत्मस्वरूप की अरक्षा का भय क्यों करना। कर्मकृतविडम्बना से आत्मा के ज्ञान का विनाश कदापि काल नहीं हो सकता वह तो सर्वदा ही आत्मा का स्वरूप होने से आत्मा में ही विद्यमान रहता है हां कर्म से

उसकी आवृत दशा रहती है जो किसी भी पुरुष के द्वारा पुरुषार्थ करने पर दूर की जा सकती है अतः अगुप्तिरूपभय को करने की क्या आवश्यकता है ऐसा विचार कर पूर्ण रीति से दृढ़--मजबूत गुप्तरूप आप स्वयं ही होकर निर्भय बने इसी में आत्मा की सच्ची भलाई है।

(७) अकस्मात् भय—जो आत्मस्वरूप के ज्ञाता हैं वे समझते हैं कि आत्मा अविनाशी-अरूपी सच्चिदानन्द, ज्ञानघन स्वरूप है इसमें अकस्मात भय कैसा अकस्मात् भय तो शरीर में ही सम्भव है जो रूपी है जड़ है विनाशी है उत्पन्न होता है नष्ट होता पुष्ट है होता है। दुष्ट होता है। आत्मा तो इन क्रियाओं से सर्वथा भिन्न है ऐसी भगवान केवली की आज्ञा है जो अखण्ड है अकाट्य है अविरुद्ध है। ऐसा विचार कर सम्यग्दृष्टि जीव अपनी सच्ची

श्रद्धा से रंचमात्र भी विचलित नहीं होता किन्तु परमात्मा के समान ही अपनी आत्मा को निर्भय बनाये रहता है।

(२) निःकांक्षित अङ्ग—जो सम्यग्दृष्टि जीव होता है उसे पदार्थ का यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित हो जाता है तब वह विचारता है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ रूप त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का न तो सुधार कर सकता है और न बिगाड़ ही कर सकता है ऐसी स्थिति में संसार के सुखों की जो कर्माधीन होने से परतन्त्र हैं। विनाशवान हैं। अपने अपने समय पर नष्ट हो जाने वाले हैं। साथ ही साथ नाना प्रकार के दुःखों से भी परिपूर्ण रहा करते हैं। भविष्य में पाप के उपार्जन में कारण हैं ऐसे सुखों की इच्छा करना किसी भी आत्महितैषी का कर्तव्य नहीं है। जो सच्चे सुख को चाहने

वाले हैं वे निरंतर आत्मा को ही उपादेय समझते हैं अन्य किसी भी पदार्थ की प्राप्ति में उनका झुकाव नहीं होता है यही निःकांक्षित सम्यग्दर्शन का अङ्ग है।

(३) निर्विचिकित्सित अङ्ग—सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि आत्मा की ओर ही रहा करती है। पर की तरफ नहीं रहती। वह तो यही विचारता है कि यह शरीर जिसमें यह संसारी जीव रहा करता है स्वभाव से ही अपवित्र है। पवित्र से पवित्र पदार्थ भी इसकी संगति से महा अपवित्र हो जाते हैं। लेकिन फिर भी इसके अन्दर निवास करने वाले जीव जब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को धारण करते हैं तब यह शरीर बाह्य में अपवित्र होते हुए भी उन गुणवान जीवों के संसर्ग से अति पवित्र है ऐसा समझकर ग्लानि नहीं करना किन्तु गुणों में प्रीति करना ही

निर्विचिकित्सित अंग है इस अंग का धारी अपनी आत्मा के समान ही तमाम संसारी आत्माओं को समझता है तब फिर किससे ग्लानि करेगा क्योंकि तमाम संसारी प्राणी कर्मों के कारण ग्लान दुःखी हो रहे हैं यह तो इनके ऊपर दया ही करेगा घृणा—नफरत कभी भी हरगिज भी नहीं करेगा। यही निर्वि-चिकित्सित अंग है।

(४) अमूढ़दृष्टि अंग — सम्यग्दर्शनवान आत्मा मूढ़दृष्टि नहीं होता अर्थात जो संसारी जीव उन्मार्ग पर जा रहे हैं विपरीत प्रवृत्ति कर रहे हैं यह उनकी वचन से प्रशंसा नहीं करेगा मन से सराहना नहीं करेगा शरीर से भी किसी तरह का कार्य नहीं करेगा क्योंकि कुमार्ग पर आरूढ़ लोगों की प्रशंसा आदि करने से वे लोग उसमें और दृढ़ता मजबूती को अपना लेते हैं जो दोनों के लिए अहितकर

होता है संसार को बढ़ा देता है। यही अमूढ़ दृष्टि अंग है।

(५) उपगूहन अंग—सम्यग्दृष्टि जीव की परिणति बड़ी ही पवित्र होती है इसके स्वभाव में यह एक बड़ी भारी विशेषता होती है कि वह अपने गुणों को अपने ही मुख से जगह जगह जाहिर नहीं करता फिरता है और दूसरों के अवगुणों (दोषों) को भी दूसरों के समक्ष प्रगट नहीं करता यथावसर दूसरों के स्वल्पगुणों को जग में विस्तार के साथ फैला देता है अपने दोषों को प्रगट करने में हिचकिचाता नहीं है किन्तु अपने उन दोषों के प्रगट करने में आनन्द मानता है कारण कि अपने दोषों को अपने ही मुख से जाहिर करने से आत्मा अविपवित्रता की ओर प्रगतिशील होता है यदि कदाचित असमर्थ मूर्ख पुरुषों के द्वारा पवित्रतम जैन धर्म की निन्दा की गई हो या की जारही हो तो उस

बड़ी ही सद्भावना से प्रेम पूर्ण तत्परता से दूर करता है यही उपगूहन अंग है।

(६) स्थितिकरण अंग— सम्यगात्मदृष्टि जीवों की विचार धारा अनुपम ही होती है वे विचार करते हैं कि ये समस्त संसार के प्राणी विविध प्रकार के कर्म बंधनों से बँधे हुए हैं ये कर्म किसी पर भी कृपाभाव नहीं करते इनकी दृष्टि में तो सभी समान हैं जिसने जैसा कर्म किया उसे वैसा ही फल समय पर दे दिया करते हैं। इन कर्मों के दुष्फल से पीड़ा को प्राप्त हुए बड़े बड़े धर्मात्मा भी अपने धर्म से परांगमुख होने लगते हैं ऐसी दशा में आत्मश्रद्धानी ज्ञानी जन ही अपने आपको सद्धर्म से गिरने नहीं देते किन्तु अपने आत्मिक प्रबल बल से ही उसमें स्थिरता रखते हैं यदि अन्य कोई धर्मात्मा किसी खास कारण वश सच्चे मार्ग से च्युत (गिरने की तरफ) उन्मुख हो रहे हों तो उन्हें भी हर तरह से

जैसे बने वैसे उसी में स्थिर कर देना ही सच्चा धर्म है क्योंकि भगवान समन्तभद्र स्वामी ने बताया है कि "न धर्मो धार्मिकैर्बिना" अर्थात धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं हो सकता अतः धर्मात्माओं की रक्षा करना यानी उन्हें धर्म मार्ग पर स्वच्छन्दता एवं निरुपद्रवता के साथ चलाते रहना ही सच्ची धार्मिकता है और इसी का नाम ही स्थितिकरण सम्यग्दर्शन का अंग है।

(७) वात्सल्य अंग—प्रत्येक साधर्मी बन्धु के साथ गोवत्स सरीखा प्रेम करना अर्थात जैसे गाय अपने बछड़े से प्रेम करती है जब कभी बछड़े के ऊपर कोई धावा करता है चाहे वह धावा करने वाला साक्षात जंगल का राजा सिंह ही क्यों न हो गाय अपने बछड़े को उस सिंह के बल पराक्रम की गति विधि की और अपने प्राणों की परवाह न करती हुई सिंह के पञ्जों में छुटकारा करने के लिए लपती है

वह गाय यह कुविचार मनमें कभी नहीं होने देती कि इस बछड़े से मेरा क्या प्रयोजन है मैं इसे बचाने के लिये वनराज से लड़कर अपने प्रिय प्राणों को क्यों व्यर्थ ही नष्ट करूँ। इत्यादि। यही बात प्रत्येक धर्मात्मा पुरुष को अपने किसी भी योग्य धर्मात्मा की रक्षा में लगा लेनी चाहिये धर्मात्माओं का धर्मात्माओं के साथ प्रेम पूर्ण व्यवहार करना ही सच्चा धर्मात्मापन है यही धार्मिकता का लक्षण वात्सल्य अंग है।

(८) प्रभावना अंग—सच्चे धर्म की प्रभावना के लिये सच्चे धर्मात्माजन अपने तन मन और धन को न्योछावर कर देते हैं वे यह नहीं देखते कि हमारी क्या हैसियत है वे तो यही विचार कर लेते हैं कि हमारा तन मन धन और जीवन सब का सब धर्म के उद्योत के वास्ते ही है वे जिस धार्मिक कार्य को करने में लग जाते हैं उसे पूरा किये बिना चैन नहीं लेते और ऐसे

कार्यों के करने कराने में ही अपने अति दुर्लभता से प्राप्त हुए मनुष्य भवको सफल मानते हैं। अर्थात् उनका मुख्य ध्येय धर्म का पालन और प्रकाशन ही है जिन्होंने अपनी गाढ़ी कमाई को धार्मिक कार्यों में खर्च कर जगत में धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया है उन्हीं ने ही सच्चे मनुष्य जन्म को सफल बनाया है। आजकल धर्म की प्रभावना का प्रधान साधन साहित्य प्रकाशन है जैन धर्म के खास खास तत्वों को आजकल की प्रचलित भाषाओं में मुद्रित कराकर जन साधारण में बिना मूल्य या स्वल्प मूल्य में ही वितीर्ण करना जैन तत्व वेत्ता विद्वानों द्वारा जगह जगह सभा सोसाइटियों में भिन्न २ भाषाओं में भाषण कराना व्याख्यान दिलाना शंका समाधान करना कराना इत्यादि सब प्रभावना अंग है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के अष्ट अंगों का वर्णन हुआ। अब सम्यग्ज्ञान के अष्ट अंगों का विवेचन किया जाता है।

सम्यग्ज्ञान के अष्ट अङ्ग

(१ शब्दाचार (२) अर्थाचार (३ उभयाचार (४) कालाचार (५) विनयाचार (६) उपधानाचार (७) बहुमानाचार (८) अनिह्नवाचार ये आठ सम्यग्ज्ञान के अंग हैं इनका प्रथक २ स्वरूप निम्न प्रकार है।

शब्दाचार—शब्दों का उच्चारण करते समय अक्षर, पद, वाक्य, की शुद्धि का शब्द शास्त्र के अनुसार ध्यान रखना शब्दाचार है। व्यञ्जनाचार, श्रुताचार, अक्षराचार, ग्रन्थाचार आदि सब एकार्थ वाची शब्द हैं। (२ अर्थाचार यथार्थ शुद्ध अर्थ के अवधारण करने को कहते हैं। (३) उभयाचार—शब्द और अर्थ दोनों के शुद्ध पठन पाठन को कहते हैं (४) कालाचार-गोसर्गकाल अर्थात मध्याह्न से दो घड़ी पहले और सूर्योदय से दो घड़ी पीछे। प्रदोषकाल अर्थात मध्याह्न से दो घड़ी पश्चात् और रात्रि से दो घड़ी पहले यह (अपराह्निक) प्रदोषकाल है।

प्रदोषकाल—रात्रि के दो घड़ी उपरान्त और मध्य रात्रि से दो घड़ी पहले। विरात्रि-काल—अर्थात् मध्यरात्रि के दो घड़ी पश्चात और सूर्योदय से दो घड़ी पहले। इन चार प्रकार के उत्तम कालों में पठन पाठनादि रूप स्वाध्याय करने को कालाचार कहते हैं। चारों सन्ध्याओं की अन्तिम और आदि की दो दो घड़ियों में दिग्दाह उल्कापात, वज्रपात, इन्द्र धनुष, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण तूफान, भूकम्प आदि उत्पातों के समय के सिद्धांत ग्रन्थों का पठन वर्जित है। हाँ स्तोत्र आराधना धर्म कथा आदि के ग्रन्थों का पठन पाठन कर सकते हैं।

(२) विनयाचार—शुद्ध जल से हस्तपादादि का प्रक्षालनकर शुद्ध स्थान में पर्यंकासन से बैठकर नमस्कार पूर्वक शास्त्र पढ़ना। उपधाना चार उपधान (हर्ष पूर्वक) आराधन करने को अर्थात विस्मृत न हो जाने को कहते हैं।

(७) बहुमानाचार— ज्ञान, पुस्तक, और शिक्षक का पूर्ण आदर करना।

अनिह्नवाचार—जिस गुरु से या जिस शास्त्र से ज्ञान की प्राप्ति हुई है उसका गोपन नहीं करना अर्थात उसे छिपाना नहीं।

ये सम्यग्ज्ञान के ८ अष्ट अंग हैं अब सम्यक चारित्र के १३ तेरह अंगों का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है। सुनिये !

सम्यक चारित्र के १३ अंग

(१) अहिंसाव्रत (२) सत्यमहाव्रत (३) अचौर्यमहाव्रत (४) ब्रह्मचर्य महाव्रत (५) परिग्रह त्याग महाव्रत (६) ईर्यासमिति (७) भाषासमिति (८) एषणासमिति (९) आदाननिक्षेपण समिति (१०) प्रतिष्ठापन समिति (११) कायगुप्ति (१२) वाग्गुप्ति (१३) मनोगुप्ति इन तेरह तरह के चारित्रों (व्रतों) का समीचीनता से शास्त्र की आज्ञानुसार ही पालन करना तेरह प्रकार का सम्यक् चारित्र कहा जाता है। इन तेरह

तरह के चरित्रों के तीन विभागों में विभक्त किया गया है (१) पहले विभाग में पंचमहाव्रत (२) दूसरे विभाग में पंच समिति (३) तीसरे विभाग में तीन गुप्तियां विभक्त की गई हैं। अब इनका अलग अलग विवेचन किया जाता है जिससे कि हरेक के स्वरूप का परिज्ञान भली भांति से हो जायगा। सर्व प्रथम पञ्च महाव्रतों का स्वरूप बताया जाता है जिसका पालन नवधा (नव प्रकार) का है।

अर्थात षट्काय (छहकाय) के जीवों की हिंसा का मन वचन काय कृत कारित अनुमोदन इन नव प्रकारों से त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। (१) पृथिवीकायिक (२) अप्कायिक (३) तेजःकायिक (४) वायु कायिक (५) वनस्पतिकायिक ये पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहे जाते। और दोइन्द्रिय से लेकर संज्ञी मनवाले पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहे जाते हैं। इन्हें ही षट्

काय-छहकाय के जीव कहते हैं इनको (१) मनसे हिंसा का चिन्तन नहीं करना (२) दूसरों से भो मन से चिन्तन नहीं कराना (३) मनसे हिंसा की सराहना नहीं करना (४) वचन से हिंसा नहीं करना (५) वचन से कहकर दूसरों से भी हिंसा नहीं कराना (६) दूसरों से की गई हिंसा की वचन से प्रशंसा नहीं करना (७) खुद अपने शरीर से हिंसा नहीं करना (८) दूसरों से हिंसा नहीं कराना (९) दूसरों से की गई हिंसा की अपने ही शरीर के अवयव (अंग भूत) हस्त आदि से हिंसक की पीठ ठोककर शाबासी नहीं देना इस तरह से सर्वथा जीव हिंसा का त्याग करना अहिंसामहाव्रत है। इसी क्रम से प्रत्येक पाप का परित्याग नव नव प्रकार से किया जाता तब ही वह त्याग पंच महाव्रत नाम से कहा जाता है। अर्थात् (१) हिंसा (२) झूँठ (३) चोरी (४) कुशील (५) परिग्रह

इन लोक प्रसिद्ध पापों का पूर्वोक्त नव प्रकार से त्याग देना ही पांच महाव्रत हैं। जो मुमुक्षु हैं इस संसार से सर्वदा के लिये मुक्त होना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि हिंसादि पांचों पापों का नवप्रकार से परित्याग करें अन्यथा संसार बन्धन से उन्मुक्त होना सर्वथा असंभव है। जिन्होंने पूर्वोक्त नव प्रकार से हिंसा का त्याग किया है उन्हें चाहिए कि वे सब से प्रथम उन पदार्थों के सेवन का परित्याग जरूर ही करदें जिनके स्पर्श मात्र से ही जीव हिंसा से बचना नितान्त कठिन है। जो धर्मात्मा हैं। परम दयालु हैं। अहिंसक हैं। उनका यह परम कर्तव्य है कि वे अपने प्राण जाते हुए भी ऐसे पदार्थों को अवश्य ही छोड़ दें जिनसे धर्म का विनाश होता हो आत्मा में राग द्वेष आदि की उत्पत्ति से निरन्तर आर्त्त रौद्र परिणामों से कर्म बन्ध अवश्यम्भावी हो जो जीव को नरक निगोद आदि दुर्गतियों में

पहुंचाने वाले हों । जिनसे आत्म स्वरूप की प्राप्ति अति दुर्लभ हो जाय । वे पदार्थ ये हैं ।

नोटः-सामान्य जनता को लक्ष्य कर यह वर्णन है ।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुम्बर फलानि यत्नेन ।
हिंसा व्युपरतिकामै मोंक्तव्यानि प्रथममेव ॥१॥

अर्थ—हिंसा से विरक्त होने की कामना करने वाले धर्मात्माओं को सबसे पहले मद्य (मदिरा) मांस मधु (शहद) और पांच उदुम्बर फलों का त्याग कर देना चाहिये ।

मद्य (शराब) मनको मोहित (बेसुध) करता है मोहित (बेसुध) मनुष्य अपने धर्म कर्म को भूल जाता है धर्म कर्म से शून्य मानव निःशंक होकर पापाचरण में मग्न हो जाता है जिससे इस का संसार परिभ्रमण अनन्त हो जाता है । मद्य सेवन से मद्य में प्रति समय उत्पन्न होने वाले त्रस जीवों का घात होता है ऐसी दशा में इस मद्य का त्याग किये

बिना अहिंसाव्रत कैसे बन सकता है अतः इसका त्याग करना अति आवश्यक है। मांस के सेवन में भी जीव हिंसा होती ही है क्योंकि त्रस जीवों के घात किये बिना मांस बन ही नहीं सकता कहा भी है "जंगम जीव का नाश होय तब मांस कहावे" आचार्यों का कहना है कि बिना जीव घात के मांस नहीं बन सकता क्योंकि मांस कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो धान्य आदि की तरह खेत में उत्पन्न होती हो वह तो किसी चलते फिरते जीव के मरने से ही या मारने से ही उत्पन्न होता है जिस (मांसरूप वस्तु) में प्रति समय उस जाति के अनन्तानन्त निगोदिया जीव श्वास के अठारहवें भाग की आयु वाले उत्पन्न होते और मरते रहते हैं ऐसे मांस को खाने वाला कैसे अहिंसक रह सकता है अतः इस मांस का त्याग करना भी जरूरी ही है।

मधु (शहद) एक तरह की मक्खियों की कै (वमन) है ये मक्खियाँ एक तरह का जाल बनाती हैं जिसे छत्ता भी कहते हैं शहद बनाने वाले लोग इन मक्खियों के छत्ते को निचोड़ कर रस निकालते हैं जिसमें बहुत सी मक्खियाँ भी साथ में निचुड़ जाने से मर जाती हैं ऐसे शहद की एक एक बून्द में प्रति समय अपरिमित जीव श्वास के अठारहवें भाग के प्रमाण आयुवाले जन्मते और मरते रहते हैं ऐसे मधु की एक बून्द का खाने वाला मनुष्य जब असंख्यात जीवों की हिंसा का भागी होता है तब बहुत प्रमाण के मधु का सेवन करने वाला अहिंसाधर्मी कैसे हो सकता है ऐसा मान कर इसका दूर से ही त्याग करना चाहिये ।

पंच उदुम्बर फलों का स्वरूप

स्थूलाः सूक्ष्मास्तथाजीवाः सन्त्युदुम्बर मध्यगाः
तन्निमित्तं जिनोद्दिष्टं पंचोदुम्बरवर्जनम् ॥१॥

अर्थ—(१) बड़ (२) पीपल (३) पाकर (४) ऊमर (५) कठूमर ये पांच प्रकार के उदुम्बर फल हैं अर्थात वट (बड़) वृक्ष के फल पीपल वृक्ष के फल ऊमर (गूलर) वृक्ष के फल कठूमर (अंजीर) वृक्ष के फल पाकर (पीत् पिलखन) वृक्ष फल ये पांचों ही जाति के फल ऐसे हैं जिनमें सूक्ष्म [बारीक] और स्थूल [मोटे] दोनों जाति के जीव ठसाठस भरे रहते हैं सूक्ष्म बारीक जीव तो हमारे और आपके नेत्रों में देखने में नहीं आते लेकिन स्थूल मोटे जीव बराबर चलते हुए नजर में आते हैं जिनको उन फलों में से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि अलग करने के पूर्व ही वे अलग करते समय उसी में मर जाते हैं अतः ऐसे फलों को खाने वाला जीव हिंसा से कैसे बच सकता है इसलिये प्रत्येक अहिंसक को इनका त्याग कर ही देना चाहिये अन्यथा अहिंसकता का कायम

रहना अति असंभव है। इस तरह तीन मकार और पंच उदुम्बर फलों का त्याग करना सच्चे अहिंसाव्रती का मुख्य कर्तव्य कर्म है इन का त्याग किये बिना धर्मात्मा बनना नितान्त कठिन है।

पञ्च समितियों का वर्णन

ईर्यासमिति—मनुष्य मात्र को चाहिए कि जैसी मेरी आत्मा है वैसी ही तामाम संसार भर की आत्माएं हैं अर्थात् एकेंद्रिय एक ही स्पर्शन इन्द्रिय वाले (१) पृथ्वी (जमीन) (२) अप् (जल) (३) तेज (अग्नि) (४) वायु (हवा) (५) वनस्पति (वृक्ष लता आदि) में रहने वाले जीव तथा दो इंद्रिय (लट केंचुआ आदि) तीन इंद्रिय (चींटी चींटा आदि) चार इंद्रिय (भौंरा मक्खी आदि) पंचेंद्रिय जीवों को अच्छी तरह से देख शोध कर चलना प्रमाद नहीं करना क्योंकि प्रमाद (असावधानी) से ही अपने और अन्य जीवों

के द्रव्य और भाव प्राणों का विनाश होता है जो हिंसा है ऐसी हिंसा से बचते रहने के लिए ही ईर्यासमिति का पालन करना अत्यावश्यक है बिना इसके अहिंसामहाव्रत नहीं हो सकता। (२) भाषासमिति—हित, मित और प्रिय वचन बोलना अर्थात् कठोर, कर्कश वचनों का प्रयोग नहीं करना और ऐसे वचन भी नहीं बोलना जिसके सुनने मात्र में ही श्रोता के हृदय में बेचैनी पैदा हो जाय किन्तु ऐसे वचनों का उपयोग करना जो श्रोताओं के कल्याण को करने वाले हों जिनको सुनते ही हृदय सागर में आनन्द की लहरें लहराने लगें। परिमित बोलना-अर्थात आवश्यकता से अधिक नहीं बोलना अधिक बोलने में कभी कभी असत्य वचन भी निकल जाता है जो स्वपर को दुःख का कारण हो जाता है। प्रिय वचन (जो कानों का सुहावना लगे) ही बोलना अप्रिय वचन कदापि नहीं बोलना ही भाषासमिति है।

एषणा-समिति—दिन में एक बार निर्दोष आहार लेना अर्थात् खाद्य (खाने योग्य पदार्थ) जीव जन्तुओं से रहित हो। घुने हुए अन्न से बनाया हुआ न हो। दिन में ही बनाया गया हो यानी सूर्योदय से तीन घड़ी पश्चात् (पीछे) और सूर्य अस्त होने से तीन घड़ी पहले हिंसा से भयभीत दयालु क्रियावान् के हाथों से तैयार किया गया भोजन ही निर्दोष शुद्ध भोजन कहा गया है। इस भोजन के तैयार करने में दोहरे छन्ने से छाना गया अग्नि से तपा कर प्रासुक किया गया जल ही काम में लिया गया हो। दुग्ध, घृत, बूरा आदि पदार्थ भी शास्त्र विहित मर्याद के अनुसार ही जिस आहार में उपयुक्त हुए हों। फल आदि भी देख शोध कर प्रासुक कर लिये गये हों। ऐसे शुद्ध पवित्र रत्नत्रय का साधन भूत शरीर की स्थिति बनाये रखने के लिये आहार लेना एषणासमिति है।

आदान निक्षेपणसमिति—अपने कार्य में उपयुक्त होने वाले समस्त पदार्थों को पूर्ण रीति देख शोध कर धरना और उठाना अर्थात् संयम के साधन पीछी कमण्डलु आदि को सम्हालकर सावधानी से रखना उठाना ज्ञान के कारण भूत शास्त्र आदि को भी पीछी आदि से साफ सुथरा कर धरना और उठाना ऐसी प्रवृत्ति का प्रयोजन एक मात्र अहिंसामहाव्रत का निर्दोष परिपालन करना ही है यही आदान-निक्षेपणसमिति है।

प्रतिष्ठापनसमिति—अपने शरीर के मल-मूत्र कफ थूक आदि को निर्जीव (जन्तुरहित) जमीन में देख शोधकर डालना बिना देखे शोधे स्थान में मल आदि का क्षेपण करने से जीव हिंसा अवश्यम्भावी है क्योंकि जब आत्मा अयत्नाचार पूर्वक कार्य करता तब जीव हिंसा न भी हो तो भी जीव हिंसा का भागी

माना गया है अतः सावधानी से ही मल आदि कर क्षेपण करना प्रतिष्ठापनसमिति है ।

तीन गुप्तियों का वर्णन

संसार के कारणों से आत्मा का गोपन (रक्षण) करना गुप्ति है जिन जिन क्रियाओं से आत्मा संसार समुद्र में डूबता जाय उनउन क्रियाओं से आत्मा की रक्षा करने को गुप्ति कहते हैं। वह गुप्ति मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति के भेद से तीन प्रकार की हैं।

१) मनोगुप्ति—यह संसारी आत्मा प्रथम तो सांसारिक विषय कषायों में अनादि काल से उलझा हुआ है इससे इसको अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान और भान नहीं हो रहा है अतः इन विषय कषायों से मनकी प्रवृत्ति हटा कर आत्म स्वरूप की ओर ही लगा देना यही मनोगुप्ति है । इस मनोगुप्ति को करने के लिये हे आत्मन् तुझे प्रति समय यह विचार

करते रहना चाहिए कि वाह्य (वाहिर की) पवित्रता से अन्तरंग की पवित्रता मनुष्य के चरित्र को अत्युज्वल बनाने में बहुत अधिक सहायक होती है । मनुष्य मात्र को काम क्रोध लोभ मोह माया, दम्भ, वैर हिंसा आदि असुहावने कूडे कचरे को अन्तरङ्ग से निकाल कर वाहिर फैंक कर अपने हृदय--(मन) को बिलकुल साफ कर लेना चाहिए । बाहिर मे निर्दोष निर्मल कहलाने का असत्प्रयत्न नहीं करना चाहिए किन्तु मन मे निर्मल बनकर ही निर्मल निर्दोषरूप मे दुनियां के साम्हने आना चाहिए । निर्मल मन वाले मनुष्य को भले ही अज्ञानी ना समझ लोग बुरा दोषी कहें तो भी कोई हानि नहीं क्यों कि दूसरों के कहने मात्र से कोई निर्दोषी पवित्रात्मा बुरा नहीं हो सकता किन्तु मनमें दोष रखकर निर्दोषी कहलाने का प्रयत्न करना ही सब से बड़ा हानि कारक है इसमें आत्मा का पतन हो

सम्भव है उत्थान नहीं । अपने हृदय को सदा टटोलते रहना ही साधक का मुख्य कर्तव्य है ऐसा करते रहने से ही यह आत्मा अपने आप ही अपने मन को बाहरी क्रियाओं से रोक कर मनोगुप्ति को प्राप्त कर सकता है यही मनोगुप्ति है।

(२) वचन गुप्ति—वचनों से आत्मा की रक्षा करना अर्थात् वचन बोलने से आत्मा कर्म बन्धन को प्राप्त करता है यह दूसरी बात है कि अच्छे हितकारी वचनों से अच्छे कर्म बंधते हैं और बुरे असुहावने वचनों से बुरे कर्म बंधते हैं जिन्हें पुण्य कर्म और पाप से कहा जाता है लेकिन वचनों का प्रयोग हर हालत में कर्म बन्ध का कारण होने से संसार का ही कारण है जब तक वचनों का उच्चारण बना रहेगा तब तक संसार भी बने बिना नहीं रह सकता अतः वचनों को रोकना और

आत्म स्वरूप में स्थिर होना ही वचन गुप्ति है।

(३) काय गुप्ति—शरीर की क्रियाओं से अपनी आत्मा की रक्षा करना ही काय गुप्ति है मारण ताड़न उच्चाटन आदि के निमित्त जो कुछ भी शरीर से किया जाता है वह सब अशुभ कर्म के बंधन में कारण है। जीवों की रक्षा के निमित्त अर्हन्त जिनेन्द्र की पूजन के निमित्त गुरुजनों की सेवा टहल के निमित्त शास्त्र लेखन आदि के निमित्त आहार दान आदि सत्कार्यों के निमित्त जो कुछ शरीर से किया जाता है वह सब शुभ होने से पुण्य बन्ध में कारण पड़ता है और बन्धमात्र आत्म स्वरूप की प्राप्ति में महा प्रतिबन्धक है। यह बन्ध ही तो आत्मा को संसार में रोके हुए है जब तक यह बन्ध दशा रहेगी तब तक यह आत्मा दुखी ही बना रहेगा अतः इस दुःख

से उन्मुक्त होने के लिये काय की क्रियाओं को रोकना ही कायगुप्ति है।

इस तरह से सम्यग्दर्शन के ८ आठ भेद सम्यग्ज्ञान के भी ८ भेद और सम्यक्चारित्र के १३ तेरह भेद ऐसे सब मिलकर २९ उन-तीस भेद यानी विमनव या विन्याव के नाम से जो २९ उनतीस कार्य संसार में प्रसिद्ध हैं वे जैनों के कर्तव्य भूत धर्म में एवं जैन धर्माय-तनभूत जैनमंदिरों में एवं जैन धर्म प्रधान जैन जाति रूप जैन संसार में सर्वत्र पालन किये जाते हैं सिर्फ वैष्णव बन्धुओं में ही इनका पालन व आचरण किया जाता हो ऐसी बात नहीं है अतः इस दुनिया में रहने वाले धर्म प्रधान जैन, वैष्णव, शैव रामानुज, आर्य समाज, ईसाई, इस्लामी पारसी, सिक्ख, बौद्ध आदि जितने भी मत मतान्तर मानने वाले लोग हैं उन्हें चाहिए कि खूब सोच विचार कर ही धर्म का आचरण करें अन्धश्रद्धा और

अंध भक्ति को तिलाञ्जलि देकर आभ्यन्तरिक ज्ञान दृष्टि से ही अधिकतर काम लें इसी से मनुष्य की मनुष्यता कायम रह सकती है क्यों कि इस चराचर लोक में अनेक जाति के नाना प्रकार के प्राणी प्राप्त हैं उन सब में सब से ज्यादा विचार शील मनुष्य प्राणी ही है और धर्माचरण की मुख्यता मनुष्य में ही उपलब्ध है यह मानव ही संसार के समस्त उत्तमोत्तम कार्यों को करता हुआ अपनी अचिन्त्य शक्ति के बल पर इस संसार से सदा के लिए मुक्त भी हो सकता है यही एक इसकी खास विशेषता है।

प्रश्न—आज दुनियां में जो हलचलें चल रही है उन्हें देखते हुए आपके द्वारा उपदिष्ट धर्म का पालन एक मात्र जैन ही कर सकते हैं न कि हम लोग, हम लोगों का धर्म तो जैन धर्म से बिलकुल ही भिन्न है।

उत्तर—तो क्या आप लोग जैनों को कायर या डरपोक समझकर ऐसा कह रहे हैं कि

जैन लोग ही जैन धर्म का पालन कर सकते हैं इसका तो यही अर्थ होता है कि जैन धर्म कायरों और डरपोकों का ही धर्म है न कि हम जैसे वैष्णव वीरों का। यह आप लोगों की समझ गलती से खाली नहीं है क्या आप लोगों ने जैन इतिहास को नहीं पढ़ा यदि पढ़ा होता तो आप लोग ऐसा गन्दा आक्षेप जैनों पर कभी नहीं लगा सकते थे। जैनों में ऐसे ऐसे वीर पुरुष हो गये हैं जिन्होंने अपने बल पराक्रम से संसार में अखण्ड राज्य किया। सारी पृथिवी पर एक छत्र राज्य करने वाले अतुल बलशाली वीर परम प्रतापी अलौकिक तेजस्वी अनुपमपरा कमी क्षत्रिय तीर्थंकर राजा महाराजा और सम्राट हो गये हैं यह जैन धर्म वीरो का ही धर्म रहा है इसमे कायरता और डरपोकपने की कल्पना के लिये जरा भी गुंजायस नहीं है इसमे तो पद पद पर कूट कूट कर वीरता का ही उपदेश भरा

पड़ा है इसका पता इसके धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन और मनन करने से ही लग सकेगा। जैन धर्म तो यही कहता है कि अन्याय मत करो और दूसरों के द्वारा किये जाने वाले अन्याय को मत सहो। अन्याय का प्रतिकार किये बिना एक क्षण भी विराम मत लो। अपमान मतकरो। और अपमान मत सहो स्वयं जियो और दूसरो को भी जीने दो। स्वयं सुखी बनो और दूसरों को भी सुखी बनाओ। आपत्ति में मत घबराओ उठकर उनका सामना करो। उन्नति में अग्रसर रहो। सम्पत्ति में हर्षोन्मत्त न रहो। सब से समानता का व्यवहार करो। किसी को भी हीन मत समझो। हरेक को आगे बढ़ने का अवसर दो। सब को शिक्षित करो। किसी को भी अशिक्षित मत रहने दो इत्यादि जैन धर्म की खास खास शिक्षायें हैं जिनसे जैन धर्म पर लगाये जाने वाले कायरता दोष की निर्मूलता स्वभावतः

सिद्ध हो जाती है और इसकी वीरता का परिचय भी परिपूर्ण रूप से प्राप्त हो जाता है यह तो बिलकुल निर्विवाद सिद्ध है कि किसी भी धर्म की असलियत का पता बिना उसके धार्मिक शास्त्रों के जाने बिना देखे अध्ययन मनन चिन्तन अनुशीलन परिशीलन और पर्यवेक्षण किये बिना नहीं लग सकता अतः जैन तत्व जिज्ञासुओं को इस ओर अग्रसर होना ही चाहिए ऐसी हमारीराय है।

प्रश्न—आपने पहले जो विसनव--या विज्णव का अर्थ उनतीस गुणों रूप किया है वही वस्तुतः माननीय और आचरणीय है ऐसा आपका सदुपदेश हमें भी सच्चे हृदय से मान्य है इस मे जरा भी सन्देह नहीं लेकिन यह तो जानना जरूरी मालूम होता है कि उन उनतीस गुणों के अतिरिक्त और भी कोई ऐसा धर्म के साधन करने का जरिया है

जिससे कर्मोंका नाश--क्षय किया जा सके। यदि है तो कृपया उसे भी बताइये।

उत्तर—पूर्वोक्त विसनव--विष्णव २६ उनतीस गुणों को अपनी आत्मा में धारण करने पर प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन जाता है इससे बढ़कर कोई भी ऐसा धर्म साधन का सरल उपाय नहीं है जिसे अमल में लाया जासके और आत्मा को परमात्मा के रूप में बनाया जासके जहां आत्मश्रद्धा आत्मरुचि आत्मप्रतीति आत्मास्था और आत्मा का दृढ़ निश्चय हो जाता है यहां ही पूर्ण आत्म ज्ञान आत्मा व बोध और आत्मा विवेक जागृत हो जाता है बस वहां ही आत्मा चरण आत्मरमण आत्मा नुभवन होने लगता है यही एक मात्र मोक्ष (कर्मों से सर्वथा छूटने) का मार्ग है अर्थात् सच्चा श्रद्धान ज्ञान और आचरण इन तीनों की एकता—मजबूती दृढ़ता--अभिन्नता और स्थिरता ही साक्षात कर्मों के सर्वथा क्षय नाश,

करने का अमोघ उपाय है। ऐसे श्रद्धान ज्ञान और आचरण के अभ्यास में रत हुए मानवों को सब से सरल और सीधा उपाय प्राणायाम है उस प्राणायाम का स्वरूप निम्न प्रकार से शास्त्रों में मिलता है।

प्राणायामका शास्त्रोक्त विवेचन

आत्मोन्नति करने वाले मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे संसार की व्यवस्था से भली भांति परिचित हो। सांसारिक अवस्थाओं में रहकर क्या किसी का हित हुआ है क्या किसी भी महापुरुष ने इसे अच्छा कहा और अच्छा माना है क्या। यदि ये संसार की व्यवस्थाएं आत्म कल्याण में कारण होतीं तो तीर्थंकर जैसे महात्मा इन्हें छोड़कर जंगल का रास्ता क्यों लेते इससे यह तो साफ तौर से जाहिर है कि संसार की दशाएं आत्मोन्नति में साधक न होकर बाधक ही होती आई हैं और रहेंगी अतः संसार की करणाभिन्न क्रियाओं का

परित्याग करना ही आत्म हितैषियों का मुख्य कर्तव्य है वही यहां बताया जाता है। यह तो सब के प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत है कि संसार में सुख और शांति कहीं भी नहीं है अतः आबाल वृद्ध सभी कहा करते हैं कि क्या करें संसार में कर्म बड़े बलवान हैं बड़ा दुःख देते हैं इनमें जरा भी सुख नहीं मिलता अतः इनके नाश करने का कोई न कोई उपाय ढूंढ निकालना चाहिए इत्यादि। तो इन कर्मों के नाश करने का उपाय एक मात्र ध्यान है इस ध्यान से शीघ्र ही कर्म नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं यहां पर उसी ध्यान का उपाय बताया जाता है। ध्यान करने के पहले अपने मन को वश में करना अत्यावश्यक है मन को स्थिर निश्चल किये बिना ध्यान का यथेष्टरूप से बनना बहुत ही कठिन है अतः मन को काबू में करने का एक ही साधन है और वह है प्राणायाम। हम सब से पहले प्राणायाम का

ही स्वरूप बताते हैं। आचार्यों ने प्राणायाम के तीन भेद कहे हैं। (१) कुम्भक (२) पूरक (३) रेचक इन तीनों का पृथक २ स्वरूप बताने के पहले ध्यान के इच्छुक पुरुषों को निम्नलिखित आठ बातों को भली भांति समझ लेना चाहिये। (१) ध्याता (२) ध्यान (३) ध्यान का फल (४) ध्येय (५) यस्य (६) यत्र (७) यदा (८) यथा इन का खुलासा इस प्रकार है। (१) ध्याता (ध्यान करने वाला) (२) ध्यान चिन्तन (किसी एक पदार्थ की ओर ही मन को स्थिर रखना) ध्यान का फल-ध्यान से कर्मों का संवर (नवीन कर्मों का रोकना) और निर्जरा (पूर्व संचित कर्मों का धीरे धीरे थोड़ा २ करके झरना) ध्येय—ध्यान करने योग्य पदार्थ (जिसका ध्यान-चिन्तन किया जाय) यस्य—जिस पदार्थ का ध्यान चिन्तन करना है वह शुद्ध द्रव्य यत्र—जहां ध्यान किया जाय वह निरंजन क्षेत्र। यदा—जिस समय ध्यान किया जाय वह काल।

यथा-जिस रीति से ध्यान करना वह भाव। ध्यान करने वाले को चाहिये कि वह विषय और कषायों को सबसे पहिले जीते अर्थात् उन विषय कषायों के आधीन न रहे तब ध्यान और प्राणायाम बनेगा अन्यथा नहीं।

पूरक का लक्षण

द्वादशान्त अंगुल पर्यंत से नासिका के छेद से पवन को खेंचकर अपनी इच्छानुसार अपने शरीर में पूरण करे उसे पूरक कहते हैं।

कुम्भक का लक्षण

उस पूरक पवन (भीतर थांभी हुई वायु) को स्थिर करके नाभि कमल में जैसे जल से घड़े को भरते हैं वैसे ही भर (रोके-थांबे) नाभि से दूसरी जगह न चलने देवे इसे कुम्भक कहते हैं।

रेचक का लक्षण

जो अपने कोष्ठ से पवन (हवा) को

रखी है उस पवन को अपने कोष्ठ से बहुत मन्द-मन्द (धीरे धीरे) अतियत्न (अत्यन्त सावधानी) से बाहिर निकालें, ऐसी क्रिया को रेचक कहते हैं।

जो नाभि स्कन्ध से निकाला हुआ तथा हृदय कमल में से होकर द्वादशान्त (तालुरन्ध्र) मे विश्रान्त हुआ (ठहरा हुआ) पवन है उसे परमेश्वर जानों क्योंकि यह परमेश्वर पवन का स्वामी है।

प्राणायाम से लाभ

पवन ईश्वर जो तालु रन्ध्र में विश्रान्त हुआ है उसका चलना अर्थात् भ्रमण और गति यानी गमन तथा आत्मा (जीव) की संस्था अर्थात् देह शरीर में सदा रहना इनको सदा जान कर काल के प्रमाण का व आयुर्बल शुभ तथा अशुभ कर्म के फल का विचार करें।

इस पवन का अभ्यास बड़े यत्न से निष्प्रमादी होकर निरन्तर करने वाला योगी जीव

की समस्त चेष्टाओं को जान लेता है । इसी-प्रकार से इस पवन का अभ्यास करने वाला योगी सावधान होकर महान् यत्न से अपने मन को वायु के साथ मन्द मन्द (धीरे धीरे) रूप से निरन्तर हृदय कमल की कर्णिका में प्रवेश कराकर वहां ही नियन्त्रित कर देवे (स्थिर थांभ देवें) वहां से बिलकुल भी नहीं चलने देवे । पवन के साथ हृदय कमल में मनको स्थिर निश्चल करने पर मन में किसी प्रकार के विकल्प नहीं उठते तथा विषयों की आशा भी नष्ट हो जाती है तथा अन्तरंग में विशेष ज्ञान का प्रकाश हो जाता है और मन भी वश में हो ही जाता है और मन का वश में करना ही मुख्य धर्म है । इस प्रकार पवन की साधना करने से इन्द्रियां मद रहित हो जाती हैं जिससे इनका अपने अपने योग्य विषयों को ग्रहण करने की ओर व्यापार ही नहीं होता । कषायें भी क्षीण हो जाती हैं । मन पर भी परिपूर्ण

विजय प्राप्त कर ली जाती है। इस मन के ऊपर अपना पूर्ण आधिपत्य करना ही प्रत्येक संसार के परिहार को करने वाले मुमुक्षु का प्रधान कार्य है जो इस प्रकार के प्राणायाम से सिद्ध हो जाता है। पूर्वोक्त प्रकार से प्राणायाम करने वाले जो वायु को पहिचानते हैं उसे ही मण्डल कहते हैं। उस मण्डल का भी स्वरूप जान लेना चाहिये। अतः मण्डल के स्वरूप का वर्णन किया जाता है।

मण्डल का स्वरूप

प्राणायाम के अवलम्बन से चित्त स्थिर हो जाता है जिससे ज्ञान विशेष जागृत होता है उस ज्ञान विशेष के द्वारा जगत के समस्त स्रोत (प्रवर्तन) को प्रत्यक्ष के समान जान लेता है इस प्रकार के पुरुष को चाहिये कि वह पवन मण्डल चतुष्टय का निश्चय करें क्यों कि इससे ध्यान की सिद्धि होती है। और ध्यान से सब कुछ हो जाता है। नासिका के

छिद्र के आश्रित होकर (१) पृथिवी मण्डल (२) अप् मण्डल (३) तेजो मण्डल (४) वायु मण्डल रूप मण्डल चतुष्टय पवन के भेद से भिन्न भिन्न लक्षणों से सहित हैं। इनकी पवन भिन्न भिन्न मण्डल को लिये हुए होती है यह मण्डल चतुष्टय अचिन्त्य है अर्थात् चिन्तन (विचार) में नहीं आता दुर्लक्ष्य है अर्थात देखने में नहीं आता। इस प्राणायाम के महान् अभ्यास से होने वाले बड़े बड़े कष्ट भी अपने अनुभव में आजाते हैं।

पूर्वोक्त चारों मण्डलों में प्रथम तो पार्थिव (पृथ्वी मण्डल) को जानना। तत्पश्चात् वरुण मण्डल (अप् मण्डल) को जानना। फिर वायु-मण्डल को जानना। अन्त में बढ़े हुए वह्नि-मण्डल को जानना। इस प्रकार से चारों का अनुक्रम से ज्ञान करना चाहिये।

पृथ्वी मण्डल का स्वरूप

पृथ्वी बीजाक्षर सहित गाढे (तपाये)

हुए सुवर्ण के समान पीत रक्त प्रभा वाले और वज्र के चिन्ह संयुक्त चौकोर चरापुर का नाम हो पृथिवी मण्डल है नासिका के छिद्र को भर कर उच्छ्वास पूर्वक बाहर निकाले। आठ अंगुल प्रमाण चपलता रहित मन्द मन्द इन्द्र स्वामी वाला गौण बिन्दु सहित पृथ्वी मण्डल होता है।

अप मण्डल का स्वरूप

आधे चन्द्रमा के समान आकार वारुण बीजा क्षर से चिन्हित स्फुरायमान अमृत स्वरूप शीतल जल से सींचा हुआ चन्द्रमा (शुक्ल वर्ण) है।

जो शीघ्र बहने वाला हो और कुछ नीचाई लिये हुए बहता हो। शीतल हो उज्ज्वल (शुक्ल) शंख रूप हो। तथा २ अंगुल बहता हो बाहर आता हो जिसमें बिन्दु संक्षेपन के हो वह वरुण मण्डल है।

पवन मण्डल का स्वरूप

सुवृत्त (बहुत ही सुन्दर गोलाकार) तथा

नीलि बिन्दुओं से सहित नीलाञ्जनघन के समान वर्णवाला हो। चञ्चल (बहुत बहने वाला) हो दुर्लक्ष्य (देखने में नहीं आने योग्य) हो। जो पवन सब तरफ बहता हो। विश्राम न लेकर निरन्तर बहता ही रहता हो। बाहर आता हो। जिसका वर्ण कृष्ण हो। जिसमें उष्णता और शीतता भी हो। जिसके बिन्दु गहरे मकरन्द हो उसे पवन मण्डल कहते हैं।

अग्नि मण्डल का स्वरूप

अग्नि के स्फुलिंग (चिनगारी) के समान पिंगल वर्ण भीम रौद्र रूप ऊर्ध्वगमन स्वरूप ज्वाला के समूह सहित जिसमें बिन्दु त्रिकोणाकार तथा स्वस्तिक सहित हो। जो वह्निबीज से मण्डित हो। ऐसा वह्नि मण्डल उदीयमान (ऊगते) हुए सूर्य के समान रक्तवर्ण ऊँचा चलता आवर्तों (चक्रों) सहित फिरता हुआ चले और चार अंगुल बाहर आवे और अति

कृष्ण हो वह वन्हि मंडल चिन्ह है इसे ही वन्हि अग्नि मंडल कहते हैं।

इस प्रकार के मंडल साधन करने वाले पुरुषों को इन मंडलों से यदि लौकिक कार्य सिद्ध करना हो तो उन्हें चाहिये कि वे श्री दि धर्म के सिद्धान्तों में श्री ज्ञानार्णव शास्त्र को पढ़े। यहां उन लौकिक कामनाओं को सिद्ध कराने वाली बातों का वर्णन नहीं किया गया है और न हो सकता है क्योंकि यहां तो सिर्फ आत्मकल्याण की सिद्धि को ही प्रधानतः लेकर वर्णन किया गया है। इस प्रकार से प्राणायाम और मंडल को करके जिस महापुरुष ने अपना मन स्थिर निश्चल कर लिया है उस महा पुरुष को ध्यान करना बहुत ही सुलभ और सरल हो जाता है। और ध्यान में ही आत्म कल्याण कारक सम्बर औ निर्जरा होती है अर्थात संसार में परिभ्रमण कराने वाले चतुर्गति के दुःखों को उत्पन्न करने वाले कर्मों का निरोध रूप

सम्बर तत्व और संचित कर्मों का एक देश नाशरूप निर्जरा तत्व ध्यान से ही सिद्ध होते हैं। अतः अब ध्यान के स्वरूप का वर्णन किया जाता है।

ध्यान के भेद प्रभेदों का स्वरूप सहित वर्णन

योग्य कालासनस्थान मुद्रावर्तशिरोनतिः
विनयेन यथा जातः कृतिकर्मा मलं भजेत् ॥१॥
पदस्थमंत्र वाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनं ॥२॥
चन्द्र लेखा समं सूक्ष्मं स्फुरित भानुभास्करं
अनाहताभिधं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत् ॥३॥
बिन्दुहीनं कलाहीनं रेफद्वितीयवर्जितं
अनक्षरत्वमापाद्य मनुचार्यो विचिन्तयेत् ॥४॥

अर्थ—ध्यान के योग्य काल (समय) आसन, मुद्रा, (आकृति) आवर्त और शिरोनति

(नमस्कार) सहित यथाजात—(बालक के समान समस्त परिग्रह से रहित नग्न) कृतकर्मा— ध्यान करने का दृढ़ निश्चयी पुरुष विनय से निर्मल ध्यान को धारण करें । अर्थात् ध्यान के योग्य काल (समय) तीन हैं प्रातःकाल (२) मध्याह्न काल (३) और सायंकाल इन तीनों कालों में उत्कृष्ट छह छह घड़ी सामायिक करना ही सामायिक ध्यान का काल है । ध्यान के योग्य आसन अर्थात् चौरासी आसनों में ध्यान करने के योग्य मुख्यता से दो आसनें बताई गई हैं पहली पद्मासन दूसरी खड्गासन इन दोनों आसनों से ध्यान करना ही ध्यान के योग्य आसन हैं । ध्यान के योग्य मुद्रा आकृति के पद्मासन और खड्गासन में नासा दृष्टि रखते हुए निश्चलता का रखना ही ध्यान की मुद्रा है आवर्त-ध्यान के योग्य बन्द कमल के आकार अर्थात् जोड़े हुए दोनों हाथों को तीन बार घुमाना ही आवर्त है से आवर्त अनेक

दिशा में तीन तीन बार किये जाते हैं इस तरह से चारों दिशाओं में कुल १२ बारह आवर्त हो जाते हैं। ध्यान के योग्य शिरोनति अर्थात् प्रत्येक दिशा में तीन तीन आवर्त के पश्चात् एक एक नमस्कार करना ही ध्यान के योग्य शिरोनति है ये चारों दिशाओं में एक एक के हिसाब से चार होती हैं। ध्यान के योग्य रूप यथाजात अर्थात् बालक जैसा नग्न होना चाहिये जिसमें तिल-तुष मात्र भी परिग्रह न हो जिसको दूसरे शब्दों में दिगम्बर मुद्रा भी कहते हैं इसी का नाम ही यथाजात है। इस प्रकार से ध्यान करने की अविचल इच्छा रखने वाला महापुरुष विनय—आदर सम्मान पूर्वक निर्मल ध्यान को करे। ध्यान के भेदों का कथन करते हुए आचार्यों ने मुख्यतः ध्यान को चार भेदों में विभक्त किया है (१) पदस्थ ध्यान २) पिण्डस्थ ध्यान (३) रूपस्थध्यान (४) रूपातीत ध्यान। पदस्थ

ध्यान में मन्त्रों की प्रधानता है। पिण्डस्थ ध्यान में आत्मचिन्तन किया जाता है। रूपस्थ ध्यान में जीवन मुक्त आत्माओं का विचार किया जाता है। रूपातीत ध्यान में निरंजन निराकार ज्ञान ज्योतिः स्वरूप शुद्ध चैतन्यात्मक मुक्त जीवों का ध्यान मनन किया जाता है। अब इनका विस्तार से वर्णन निम्न प्रकार है। सुनिये !

पदस्थध्यान

पदस्थ ध्यान में किसी भी परमात्म प्रधान मन्त्र का ध्यान किया जाता है मन्त्र में जिन के नामों का उच्चारण किया गया हो उनके गुणों को स्मरण करना पदस्थध्यान है यद्यपि मन्त्र तो हजारों प्रकार के होते हैं तथापि उन मन्त्रों में कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं जिनका ध्यान करना आत्मा के लिये बहुत ही कल्याणकारी है उनमें से कुछ मन्त्रों के नाम नीचे लिखे जाते हैं इनमें से यथा शक्ति और यथा समय

किसी भी मन्त्र का ध्यान अवश्य ही प्रतिदिन प्रत्येक सन्ध्या में करना चाहिये।

(१) णमो अरहन्ताणं (२) णमोसिद्धाणं (३) णमो आइरियाणं (४) णमोउवज्झायाणं (५) णमो लोए सव्वसाहूणं। यह पैंतीस अक्षरों का मन्त्र है। अर्हंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय सर्व साधु। यह सोलह अक्षरों का मन्त्र है। अरहन्त, सिद्ध यह छह अक्षरों का मन्त्र है।

अ, सि. आ. उ. सा.। यह पांच अक्षरों का मन्त्र है।

अरहन्त। यह चार अक्षरों का मंत्र है।

सिद्ध। यह दो अक्षरों का मन्त्र है।

ओम्। यह एक अक्षर का ही मन्त्र है।

इस प्रकार से पूर्वोक्त मन्त्रों का ध्यान मोक्ष मार्ग में सहायक माना गया है क्योंकि इन मंत्रों में उन्हीं के नाम लिये गये हैं जिन्होंने अपने अपने स्वरूप को प्राप्त कर लिया है

अथवा अपने स्वरूप को प्राप्त करने में संलग्न हैं अर्थात् इनमें सिद्ध परमेष्ठी पूर्ण रूप से आत्म स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं। अरहन्त परमेष्ठी जीवन मुक्तावस्था में हैं यानी इनके चार घातिया कर्मों का नाश तो हो चुका है किन्तु चार अघातिया कर्मों का नाश करना शेष है लेकिन उन अघातिया कर्मों का नाश अवश्य ही हो जाने वाला है अतः ये भी परमेष्ठी ही हैं। शेष आचार्य उपाध्याय और सब साधु आत्मस्वरूप की प्राप्ति में पूर्ण रूप से लगे हुए हैं संसार की कारणीभूत क्रियाओं का इन के सर्वथा त्याग हो चुका है मोक्ष मार्ग पर परिपूर्ण से आरूढ़ हैं इसलिये परमेष्ठी हैं (परमपद में स्थित हैं) अतः ध्यान करने योग्य हैं इनके अतिरिक्त मन्त्रों का ध्यान करना भी योग्य हो सकता है यदि उनमें पूर्वोक्त परमेष्ठियों के नामों का उच्चारण किया

गया हो तो। लेकिन यदि वे संसारी पदार्थों को प्राप्त करने की दृष्टि से ध्यान में लाये जायेंगे तो संसार की ही वृद्धि होगी अतः ऐसे ध्यान को या तो आर्त ध्यान, कहा जायगा या रौद्र ध्यान, और ये दोनों ध्यान सर्वथा हेय (छोड़ने योग्य) ही हैं ऐसा समझ कर इस तरह के मन्त्रों का ध्यान कभी भी नहीं करना चाहिये।

रूपस्थ ध्यान का स्वरूप

चन्द्रमा के समान अत्युज्वल तथा सूक्ष्म ध्यान में स्फुरायमान होना तथा इस प्रयोग में जीवन मुक्त आत्मा की विभूति का अर्थात् समवसरण सहित व अष्ट प्रातिहार्य व चौंतीस अतिशय सहित ऐश्वर्य का ध्यान करना ही रूपस्थध्यान है।

रूपातीतध्यान

द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म रहित शुद्ध ज्ञानाकार अष्ट गुण सहित आकाश तुल्य आत्मा का ध्यान करना ही रूपातीत ध्यान है

पिण्डस्थ ध्यान का लक्षण

जो समुदाय रूप में प्रवर्तता है उसे पिण्डस्थ ध्यान कहते हैं। यह संस्थान विचय नाम का धर्म ध्यान ही है।

पिण्डस्थं पंच विज्ञेया धारणा वीर वर्णिता।
संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति॥

अर्थ—वीरवर्णित--भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा वर्णित पांच धारणाओं को पिण्डस्थ ध्यान कहा गया है इन धारणाओं में संलग्न संयमी साधु--मुनि अपने जन्मरूपी पाशों को जड़ मूल से उन्मूलित कर देता है। वे पांच धारणाएं निम्न प्रकार से वर्णित हैं। (१) पार्थिवी धारणा (२) आग्नेयी धारणा (३) वायवी धारणा (४) वारुणी धारणा (५) तत्त्व रूपवती धारणा ये यथाक्रम से होती हैं।

पार्थिवी धारणा का स्वरूप

प्रथम जम्बूद्वीप पर्यन्त निःशब्द कल्लोल

रहित बर्फ के सदृश सफेद समुद्र का चिन्तन करे। उसके बीचों बीच एक ऐसा कमलाकार स्वर्ण जैसा रंगवाला कमल का चिन्तन करे। फिर उसके बीचों बीच एक कर्णिका का चिन्तन करे। उस कर्णिका के ऊपर शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान स्वच्छ श्वेतवर्ण एक ऊँचा सिंहासन का विचार करे। उस सिंहासन पर स्वयं ही बैठे। तत्पश्चात् ऐसा विचार करे कि यह हमारी आत्मा राग द्वेष आदि समस्त विकारों को नाश करने में समर्थ है और संसार में उत्पन्न हुए विविध प्रकार के कर्मों की सन्तति को भी दूर करने में उद्यमी है इसी का नाम ही पार्थिवी धारणा है।

आग्नेय धारणा का स्वरूप

ध्यानी अपने निश्चल अभ्यास से अपने नाभि मन्डल में १६ सोलह दल (पत्र) वाले एक कमल की कल्पना--स्थापना करे। उस कमल के बीच में कर्णिका की कल्पना करे। उस

कर्णिका में "ह्रैं" स्थापित करे और उन सोलह पत्रों पर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन १६ सोलह स्वरों को यथा क्रम से स्थापित करे। इस कमल के ऊपरी भाग अर्थात् हृदय स्थान में १ एक अष्ट दल (आठ पत्र) वाले कमल का चिन्तन करे बीच में कर्णिका का चिन्तन करे। इस कर्णिका में भी "ह्रैं" स्थापित करे। शेष कमल दल पर अर्थात् एक एक पाखुडी पर क्रमानुसार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय इन आठों कर्मों का चिन्तन करे। इसके पश्चात् अपने बांई तरफ के भाग एक त्रिकोणरूप कुण्ड का चिन्तन करे उसके मध्य में बीजाक्षर "र" हो फिर उस ऊपर वाले कुण्ड के ह्रैं के रेफ से जरा जरा सी धुंवे की धारा प्रगट करे। वह धुंवे की धारा प्रचण्ड अग्नि वडवानल के समान महान भीषण रूप को धारण करती

हुई उस आठ कर्म रूप महामल को इसतरह से जलावे जैसे कि सूखे तृण के ढेर को जलाती है और इसे भस्म कर देती है उस समय पर शरीर का दग्ध होना समझे। सिर्फ आत्मा प्रदेशों के रहने का ही चिन्तन करे। इस प्रकार के ध्यान की दशा को आग्नेय धारणा कहते हैं।

वायवी धारणा का स्वरूप

वायवी धारणा में ऐसा चिन्तन करे कि यह वायु इतना प्रचण्ड है जो देवों की सेना को चलायमान करता है। मेरु पर्वत को कम्पायमान करता है। मेघों के समूह को भी छिन्न भिन्न तितर बितर करता हुआ समुद्र को क्षुब्ध (चञ्चल कर देता है। दशों दिशाओं को भी क्षुब्ध (चञ्चल) करता हुआ संचरण करता है। तत्पश्चात् ध्यानी योगी यह विचारे कि वह पहले जो शरीर भस्म हुआ और उसकी कालिमा रूप जो भस्म थी

उसे भी इसने तितर बितर कर दिया है बखेर दिया है अतः शान्तिरूप वायु का चिन्तन करे। यही वायवी धारणा है।

वारुणी धारणा का स्वरूप

वह पवित्र ध्यानी योगी इन्द्र धनुष, बिजली, गर्जनादि चमत्कार सहित मेघों के समूह से भरे हुए आकाश को विचारे। उन मेघों से उत्पन्न हुए मोती के समान बड़ी बड़ी बूंदों (जल कणों) से निरन्तर मूसल धार रूप से बर्षे हुए अर्द्ध चन्द्राकार मनोहर अमृत मय जल के प्रवाह से उस दग्ध शरीर की भस्म को जिसे वायु ने उड़ाया था (जगह २ बखेरा था) उसकी कालिमा जो उस भस्म में मौजूद थी उसको भी इस वारुणी वर्षा ने धो दिया स्वच्छ कर दिया ऐसा चिन्तन करना ही वारुणी धारणा है।

॥ तत्त्वरूपवती धारणा ॥

तत्पश्चात संयमी-मुनि-योगी सप्त धातु

रहित पूर्णमासी के चन्द्र के समान निर्मल प्रभा वाले सर्वज्ञ के समान अपने आत्म द्रव्य को ध्यान में लावे तत्पश्चात अपने आत्मा को अतिशय युक्त, सिंहासन पर आरूढ़ कल्याण की महिमा सहित देवन्द्र, नाग, नर योन्द्र चक्रवर्ति आदि से पूजित समझे मनन करे। तत्पश्चात अष्ट कर्म मल से रहित शुद्ध चैतन्य तेज से स्फुरायमान अति पवित्र पुरुषाकार अपने शरीर में प्राप्त हुए आत्मा का सदा ध्यान करे। इस तरह के ध्यान के प्रभाव से संसार में इस जीव को मोक्ष इसी भव से प्राप्त हो जाय अगर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्राप्ति में मुक्ति के प्राप्त कराने की योग्यता उस समय नहीं भी हुई हो तो आगे उस जीव के क्या २ फल विभव और चमत्कार होते हैं उन्हें ही यहां पर बताया जाता है। कारण कि इन पूर्वोक्त ध्यानों का धारक सम्यग्दृष्टि ही होता है। मिथ्यादृष्टि के ये ध्यान

त्रिकाल में भी संभव नहीं है।

दोहा

सम्यग्दृष्टि जीव को निश्चय कुगति न होय।
पूर्वबन्धतें होय तो सम्यक् दोष न कोय॥

अर्थ—यथार्थ आत्म श्रद्धानी जीव को कुगति नहीं मिलती। अगर यथार्थ श्रद्धान के पूर्व ही उसने किसी कुगति का बंध कर लिया हो तो दूसरी बात है। सम्यक् श्रद्धान से तो सुगति ही मिलती है। सम्यक श्रद्धानी पुरुष अपने जीवन में यदि स्वपर कल्याण की उत्कट एवं उन्नत भावना के अनुसार पूर्ण रीति से कार्य न कर चुकने के पूर्व ही कदाचित किसी कारण विशेष के उपस्थित हो जाने से काल के गाल में जाने वाला हो तो उसका अन्तिम कर्तव्य कैसा होना चाहिए इसी बात का विचार यहां पर किया जाता है जिसे दूसरे शब्दों में मृत्यु महोत्सव के नाम से भी कहा करते हैं

उत्साहपूर्वक मरने की विधि

सुदत्तं प्राप्यते यस्मात्-दृश्यते पूर्वसत्तमैः
भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं मृत्युभीतिः कुतःमता

अर्थ—धर्मात्मा पुरुषों का कर्तव्य है कि वे अपनी योग्यता के अनुसार ही दान, पुण्य जप, तप, अनुष्ठान आदि उत्तमोत्तम कार्य करते ही रहें एक क्षण भी ऐसा न जाने दें जिसमें कोई शास्त्र विहित श्रेष्ठ कार्य न किया गया हो क्योंकि इन सब सत्कार्यों का फल मरने के पश्चात स्वर्ग में इसे नियम से ही मिलता है अतः मृत्यु को अपना परम मित्र समझकर उपकारी मानकर उसका समीचीन शांति भावों के साथ साधन करना चाहिए। डरना नहीं चाहिए। डरने से क्या कभी किसी को मृत्यु ने छोड़ा नहीं कभी नहीं। हां जो लोग मृत्यु से नहीं डरे किन्तु बल पूर्वक उसका सामना करते गये आज वे ही मृत्यु

ऊपर विजय प्राप्त करके त्रिलोक विजयी हुए । इसलिए सच्चे आत्मश्रद्धानियों को मृत्यु से कदाचित भी भय नहीं हो सकता ।

सर्व दुखप्रदं पिण्डं दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः
मृत्यु मित्र प्रसादेन प्राप्यते सुख संपदा

अर्थ—आत्मदर्शी-ज्ञानी पुरुष मृत्यु रूपी मित्र के प्रसाद से सब दुःखों को देने वाले उस शरीर रूपी पिण्ड को त्याग कर पूर्व संचित पुण्य कर्म के फल से सुख और संपत्ति को प्राप्त करते हैं । इस संसार रूपी दुख से छुटाकर स्वर्ग रूपी सुख को बताने की ताकत यदि किसी में है तो वह एक मात्र मृत्युरूपी महायोद्धा में ही है अन्य में नहीं । जिस पुरुष ने मृत्यु रूपी कल्पवृक्ष को प्राप्त करके भी अपनी आत्मा का कल्याण नहीं किया वह नियम से संसार रूपी महान कीचड़ में ही फंसकर दुर्गति में जा गिरता है जहां नीच

शरीर रूपी कारागृह (जेलखाने) में पड़ापड़ा ही अपने मौत के दिन को गिना करता है वहां आत्मा का हित कैसे हो सकता है अतः सुगति में ही रहने वाले जीव आत्मकल्याण के अधिकारी हो सकते हैं वे इस उत्तम मृत्यु से जीर्ण शीर्ण शरीर व शिथिल इन्द्रियों को ममता भावों से छोड़कर नवीन अति सुन्दर सुभग और सुडौल शरीर को प्राप्त कर सकते हैं तत्पश्चात अपनी आत्मा कल्याण की उत्तमोत्तम भावनाओं को सफलीभूत करके कृतकृत्य बन सकते हैं अतः ऐसे मृत्युराज का सदैव ही आह्वान करते रहना चाहिए दूसरे यह तो सभी जानते हैं कि सुख और दुख का भोगने वाला एक आत्मा ही है, शरीर नहीं वह तो जड़ है अचेतन है अतः किये हुए पुण्य कर्म के फल को प्राप्त करने में मृत्युराज ही सहायक है ऐसा समझकर इस मृत्युराज को ही सम्हालते रहना चाहिए। जिन पुरुषों का

चित्त शरीर रूप संसार में ही फंसा रहा है उनको ही मृत्यु से भय होता है वे ही नहीं चाहते कि हम मरें लेकिन मृत्यु तो अपना कार्य किये बिना रह ही नहीं सकती। लेकिन जो शरीर संसार में नहीं फंसना चाहते उन्हें तो इस मृत्यु से एक विलक्षण आनन्द ही आता है। अतः ज्ञानी पुरुषों को मृत्यु के अवसर पर सल्लेखना धारण करना चाहिए। उस सल्लेखना का स्वरूप निम्न प्रकार से है। सुनिये!

सल्लेखना का स्वरूप

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायांच निःप्रतीकारे
धर्माय तनु विमोचन माहुः सल्लेखनामार्याः

(स्वामी समन्तभद्र-र. क. श्रा.)

अर्थ—प्रतिकार रहित (बेइलाज) उपसर्ग-(उपद्रव) दुर्भिक्ष (दुःकाल) जरा (बुढ़ापा) रुजा (कोई असाध्यरोग) के उपस्थित हो जाने पर धर्म के लिये यानी विशेष सुख और शांति के

उद्देश्य से काय का त्याग कर देना सल्लेखना है ऐसा विवेकी महापुरुषों का उपदेश है। अर्थात् जब कभी ऐसा समय आजाय जिसमें यह आत्मा अगत्या कुछ भी वाह्योपचार करने में असमर्थ हो जाय तब शुद्ध चित्त से अपने माता-पिता बन्धु स्त्री पुत्र आदि स्नेही कुटुम्बी जनों से और प्रेमी मित्र आदि और बैरी द्वेषी शत्रु आदि से अपने अपराधों की क्षमा मांगना और स्वयं भी उनके अपराधों को क्षमा करना। यदि किसी की सम्पत्ति या जायदाद छीन ली हो तो हर्ष सहित हो उसे बुला कर पीछे देना। अपने पास की जायदाद को किसी योग्य धार्मिक कार्य में लगा देना। आवश्यक हो तो कुटुम्बी-जनों को भी यथायोग्य रीति से वितरण कर देना। अन्य किसी भी प्रकार की शल्य नहीं रखना। सब प्रकार के चेतन अचेतन पदार्थों से ममत्व का त्याग कर संतोष से साधर्मी-जनों के समक्ष इष्ट देव का स्मरण

पूर्वक शांतिपूर्ण परिणामों से मरण करने का उपाय करना। पूर्व समय में यदि कदाचित पाप बन गया हो तो उसको अपने मन से सत्यता-पूर्वक निकाल देना। दूसरों के समक्ष कह कर उसका प्रायश्चित ले लेना पश्चात् किसी प्रकार का छल-कपट मन में न रख कर सर्वथा निर्द्वन्द्व होकर मरण समय (समाधि के समय) कायरता को त्याग कर दुःख के कारण भूत शोक भय ग्लानि खेद कलुषता आर्ति पीड़ा आदि के परिणामों को दूर कर वीरता सहित मरण करना। कारण कि कितने ही वैद्य व डाक्टर जंत्र मंत्र तंत्र व देव दानव आ जावें परन्तु मरने से कोई बचा नहीं सकता संसार में बड़े-बड़े योधा सूरवीर पराक्रमी प्रतापी लोग भी किसी अन्य की शरण में जाकर भी मरण से नहीं बच सकते। ऐसा विचार कर एक मात्र धर्म की शरण में आया जीव ही धर्म के प्रभाव से मरण से भी अपनी रक्षा कर

सकता है यह सामर्थ्य समाधिपूर्वक मरण करने वाले जीवों को ही प्राप्त हो सकती है ऐसा सोच समझ कर समाधिमरण ही आत्मोन्नति का एक मात्र साधन है इस प्रकार की भावना को दृढ़ करना। भगवान् जिनेन्द्र का नाम ध्यान में रखना। आत्मा के अमरत्व का निरंतर चिन्तन करना। शरीर में व्यामोह को दूर करने के लिए सर्वप्रथम आहार में खाद्य-वस्तुओं के खाने का त्याग करना। पेय वस्तुओं में दुग्ध आदि पर ही रहने का अभ्यास करना इसमें परिपक्व हो जाने पर सिर्फ गर्म जल पर ही रहना उसमें भी परिणामों की स्थिरता होने पर उपवास की ओर प्रवृत्त होना। अपनी शक्ति के अनुसार जब उपवास में परिपूर्ण सफलता प्राप्त हो जाय तब शरीर से सर्वथा ममत्व परित्याग कर देना। इस प्रकार से आयु के अन्त में पूर्ण सावधानी से प्राणों का परित्याग करना ही सल्लेखना मरण है इसका साक्षात् फल तो

स्वर्गादि सम्पत्ति की प्राप्ति ही है और परम्परा फल मोक्ष की प्राप्ति है। जिन्होंने एक ही बार समाधि मरण धारण किया हो वे नियम से संसार के बन्धनों को उच्छिन्न कर मुक्ति के सुख के भोक्ता होते हैं यह सर्वथा निस्संदेह है।

प्रश्न—यह तो आपने समाधि मरण का क्रमशः वर्णन कर दिया है और हमने भी इस को भलीभांति समझ लिया है लेकिन अकस्मात ही कोई ऐसा प्रसंग आजाय जिसमें पूर्वोक्त समाधि की विधि का करना कराना नितान्त असम्भव हो जाय ऐसी हालत में क्या करना चाहिए।

उत्तर—क्रमवर्ती समाधि के स्वरूप को तो आप समझ चुके अक्रम समाधि मरण वाला एकदम मृत्यु के आजाने पर क्या करना। जैसे अग्नि से जल गया पानी में गिर गया विष खा लिया तलवार का प्रहार हो गया वा गोली का

निशाना हो गया किसी विषैले सर्प आदि ने डस लिया या किसी क्रूर सिंह आदि के पंजे में जा पहुंचा आदि नाना प्रकार के मृत्यु के कारणों के उपस्थित हो जाने पर शीघ्रातिशीघ्र समाधि धारण कर ऐसा ध्यान करना चाहिए कि मैं इन (उपसर्गों) से बच जाऊंगा तो ठीक है अन्यथा आज से मेरे जन्म पर्यन्त धर्म को छोड़ कर तमाम पदार्थों को मन वचन और काय कृत कारित अनुमोदना इन सब प्रकारों से सर्वथा त्याग है। किसी भी पदार्थ से मेरा कोई भी संबन्ध (नाता) नहीं है सभी पदार्थ मेरे स्वभावतः पृथक हैं और मैं भी शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने से इनका ज्ञाता (जानने वाला) और दृष्टा (देखने वाला) ही हूं मेरा इन बाह्य वस्तुओं से जरा सा भी सरोकार—सम्बंध नहीं है ऐसा विचार कर संतोष से सावधानी से भगवान के गुणों का स्मरण और स्तवन (नामोच्चारण) से प्राणों का त्याग करना चाहिए। ऐसा करने

से वह सद्गति का परम पात्र होगा। परलोक में नियम से सुख शांति का अनुभोक्ता होगा।

असमाधि मरण का दुष्फल

जो लोग दिन रात धन धान्य मकान कुटुम्बी स्त्री पुत्र भाई बन्धु मित्र शत्रु राज्य आदि विषयों में ही लोग रहते हैं कषायों के पुष्ट करने में ही मग्न रहते हैं उनका मरण कभी भी सुधर नहीं सकता कारण कि उनका ध्यान धर्माचरण की तरफ नहीं है और न वे धर्म कर्म को करना चाहते हैं वे तो एक मात्र लौकिक विषय सामग्री के संकलन में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं धर्म तो उन्हें एक ढोंग ढकोसलासा प्रतीत होता है ऐसे लोग अपने मरण के समय को कैसे सुधार सकते हैं वे तो मरते समय बड़ा विलाप करते हैं हाय इस सम्पत्ति को कौन भोगेगा इस का क्या होगा इत्यादि आर्त रौद्र परिणामों से

अपने प्राणों को छोड़कर नरक आदि कुगतियों में ही जन्म लेते हैं जहां के दुखों का वर्णन करना मानवी जिह्वा से परे है।

संसार में जो जन्म लेता है वह मरता भी अवश्य है। और जो मरता है वह जन्म भी अवश्य लेता है यह नियम अनादि और अनन्त है। इसमें जब हम मृत्यु की तरफ दृष्टि डालते हैं तो हमें दो ही बातें समझ में आती हैं एक तो अच्छी और दूसरी बुरी यहां अच्छी बात का अर्थ है अच्छी मृत्यु अर्थात जिस मृत्यु में धर्म ध्यान की पुष्टि हो गई हो ऐसी मृत्यु का साक्षात फल तो स्वर्ग की प्राप्ति ही है। वहां से अपनी आयु को पूर्ण कर इस मनुष्य भव में आकर उत्कृष्ट संयम को धारण कर मोक्ष को प्राप्त करना यह परम्परा फल अविनाशी फल की प्राप्ति रूप है। इसी सच्ची और अच्छी मृत्यु का वर्णन कुछ विस्तार से किया जा चुका है जिसमें लोगों की प्रवृत्ति इस तरफ

मरण की ओर हो। अब उस सम्यक मरण को करने वाले सम्यग्दृष्टि जीवों की कुछ विशेषताओं का वर्णन किया जाता है।

सम्यग्दृष्टि की विशेषताएँ

सम्यग्दृष्टि जीव मरकर निम्न लिखित दशाओं में जन्म नहीं लेता। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नरक में नहीं जाता, तिर्यञ्चों में जन्म नहीं लेता। नपुंसक नहीं होता। स्त्री नहीं होता नीच कुल में जन्म धारण नहीं करता है। रोगी नहीं होता है। अल्पायु नहीं होता है। दरिद्री नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव मरकर जब स्वर्ग में जाकर जन्म लेता है तब इसको ऐसी महान् ऋद्धियां प्राप्त होती हैं जिनकी महिमा अचिन्त्य होती है वे ऋद्धियां आठ प्रकार की होती है उनके नाम ये हैं। (१) अणिमा (२) महिमा (३) लघिमा (४) गरिमा (५) प्राप्ति (६) प्राकाम्य (७) ईशत्व

(८) वशित्व इन आठ ऋद्धियों का स्वामी देव बड़ा भाग्य शाली पुण्यात्मा माना जाता है । इन ऋद्धियों का पृथक् २ विवेचन निम्न प्रकार है ।

अष्ट ऋद्धियों का स्वरूप

(१) अणिमा—देवों की विक्रिया पृथक और अपृथक दोनों प्रकार की होती है । जिस ऋद्धि के बल से देव अपने शरीर को छोटा से छोटा बना लेवे । जो अणु सरीखा होने से किसी की दृष्टि में न आ सके । उसकी ऐसी महिमा होती है कि सामने रहने वाले मनुष्य आदि के निकट होकर वह निकल जाय लेकिन किसी को पता भी न चले । जहां से चाहे वहां से निकल जाय लेकिन कोई भी जिसे जान न सके रोक न सके । ऐसा शरीर अणिमा ऋद्धि का ही फल है ।

(२) महिमा ऋद्धि—अपने शरीर को ऐसा बना लेवे जिसकी महिमा का वर्णन इन्द्रादिकों

जिह्वाओं से भी नहीं हो सके। और इतना बड़ा शरीर बना लेवे कि जो एक लाख योजन विस्तार वाले जम्बू द्वीप के बराबर विस्तार वाला हो जाय और देखते २ ही और का और रूप हो जाय इसी का नाम महिमा ऋद्धि है।

(३) लघिमाऋद्धि—विक्रिया से इस प्रकार के कार्य करें जो देखने में तो पदार्थ इतना बड़ा हो कि देखने वाले देखते ही घबरा जावें और पकड़ना चाहें तो अपनी मुट्ठी में ही आजाय आया हुआ वह पदार्थ इस प्रकार से निकल जाय निकलते समय उसका पता भी न लगे कि कहां और कैसे निकल गया इत्यादि लघिमा ऋद्धि के कार्य हैं।

(४) गरिमा ऋद्धि—छोटा से छोटा पदार्थ भी जिसके द्वारा गुणों में महानगरिष्ठ हो जाय या वजन में भी महान गरिष्ठ हो जाय यहां तक कि बड़े से बड़े योधा भी जिसे न उठा सके

और न हिला सके । गुणज्ञान से गुणवान भी जिसके गुणों का वर्णन न कर सके ऐसी गुरुता जिसके प्रभाव से होती है उसे गरिमा ऋद्धि कहते हैं ।

(५) प्राप्ति ऋद्धि—बड़ी से बड़ी विनोद रूप वस्तुओं को सहज में ही प्राप्त करादे । इस ऋद्धि में ऐसी योग्यता होती है कि इस ऋद्धि वाला यदि चाहे तो अपना हाथ स्वयम्भूरमण समुद्र तक पहुंचादे । जो बात अति कठिन मालूम पड़े उसे जो अति सरलता से सहज में ही करादे ऐसी ऋद्धि का नाम ही प्राप्ति ऋद्धि है ।

(६) प्राकाम्य ऋद्धि—इस ऋद्धि के प्रभाव से देवों का ऐसा सुन्दर मनोहर स्वरूप होता है जिसके सामने काम देवों का स्वरूप भी फीका पड़ जाता है । इस शरीर वाला नन्दन वन सौमनस वन आदि में अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करे । जिस की सुन्दरता चक्रवर्तियों को भी प्राप्त

जाती होती ऐसी अनुपम सुन्दरता प्राकाम्य ऋद्धि से ही प्राप्त होती है यही प्राकाम्य ऋद्धि है।

(७) ईशित्व ऋद्धि—संसार भर में बड़े बड़े मंत्र जंत्र तंत्र वाले भी जिन्हें देखकर घबरा जायें जिन की सामर्थ्य के सामने बड़े बड़े शक्ति शाली भी अपनी शक्ति को भूल जायें। उन्नत से उन्नत भी जिसके देखने मात्र से नत मस्तक हो जायें ऐसी ईशिता जिसके प्रभाव से पैदा होती है उसे ही ईशित्व ऋद्धि कहते हैं।

(८) वशित्वऋद्धि—संसारी कार्यों में ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो इस ऋद्धि वाले के वश में न हो सके और ऐसा कोई पुरुष भी नहीं है जो इसके वश में न हो सके अर्थात् सभी कार्य आदि इसकी अधीनता में ही रहा करते हैं लेकिन यह किसी की अधीनता में नहीं रहता यही सबसे बड़ी विशेषता इस

ऋद्धि से प्राप्त होती है इसी का नाम ही विशिष्ट ऋद्धि है। इस प्रकार की अष्ट ऋद्धियाँ उन जीवों को प्राप्त होती हैं जिन्होंने सम्यक मरण कर स्वर्ग प्राप्त किया है। इनका जन्म भी एक विलक्षण प्रकार की शय्या पर हुआ करता है जिसे उपपाद् शय्या कहा जाता है इस शय्या पर पहुंचते ही जीव अन्तमुहूर्त (दो घड़ी के भीतर) में ही पूर्ण युवक के रूप मे जन्म लेता है। इसके शरीर में किसी भी प्रकार की व्याधि नहीं होती सब तरह का सुख साता की सामग्री अपने पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से इसे वहां मिलती है प्रत्येक इन्द्रिय के उत्तमोत्तम भोगोपभोग के पदार्थ स्वयमेव इसके सामने उपस्थित रहा करते हैं हजारों देव और देवांगनाएँ निरन्तर ही इसकी सेवा में संलग्न रहा करती हैं बहुत से देव वाहन आदि बनकर इसकी सेवा में रत रहते हैं यह स्वयं भी अपनी ही इच्छानुसार यत्र तत्र सुरम्य स्थानों पर जाकर

अर्धन्द्र क्रीड़ा मनोविनोद आदि किया करता है। भूख की इच्छा होते ही अमृत के समान इनका मानसिक भोजन होता है। वहां माता पिता भाई बहिन भानजा भानजी नाना नानी मामा भाई दादा दादी काका काकी बेटा बेटी आदि के जन्म और मरण का हर्ष और विषाद करने का अवसर ही नहीं आता जिसका वर्णन यहां किया जाय वह सब इस धर्म का ही फल है जो निश्चल आत्म श्रद्धानज्ञान और आचरण रूप से पूर्व जन्म में साधा गया इस प्रकार से स्वर्ग में पहुंचा हुआ यह जीव सागरों पर्यन्त बाधा रहित इन्द्रियों के सुखों को भोगकर जब वहां से अपनी आयु को पूर्ण कर इस मध्य लोक के अन्तर्गत मनुष्य लोक में आता है तब यहां आ इसी सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से मनुष्यों में कैसी ऊंची २ पदवियां को प्राप्त करता है उन्हीं का यहां पर वर्णन किया जाता है।

ओजस्तेजो विद्यावीर्य यशोवृद्धि
विजय विभवसनाथाः
महाकुलाः महार्थाः मानवतिलकाः
भवन्ति दर्शनपूताः

सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव बड़े ओजस्वी महातेजस्वी महान विद्वान बड़े बलवान महा यशस्वी वृद्धिशाली अर्थात पुत्र पौत्र आदि की वृद्धि वाले महाविजयवान महान् ऐश्वर्य शाली श्रेष्ठ कुलवान महा धनवान मनुष्यों में सर्व श्रेष्ठ होते हैं इनकी प्रतिष्ठा का वर्णन कोई भी करने में समर्थ नहीं होता। ऐसे सर्वोत्तम महापुरुष ये होते हैं।

ये ही धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को अविरोध रूप से सेवन करते हुए संसार में एक महान असाधारण आदर्श उप-स्थित करते हैं। ये ही समस्त भरत क्षेत्र के [illegible] नगर के अधिपति होते हैं [illegible]

का आज्ञाचक्र ही सारे भारत वर्ष में अखण्ड रूप से चलता है हजारों देव दानव इनकी सेवा में अविरत रूप से निरत रहते हैं इन्हीं के नव निधि और चौदह रत्न होते हैं बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजा लोग इनके चरणों में नत मस्तक होते हैं ऐसे चक्रवर्ती पद के धारक एक मात्र सम्यग्दृष्टि जीव ही होते हैं यही सम्यग्दृष्टि ही इस धरातल पर एक ऐसे महान पद को लेकर अवतार लेते हैं (जिनके चरणों में भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी और कल्पवासी ये चारों प्रकार के देवों के अधिपति इन्द्र और मनुष्यों का अधिपति चक्रवर्ती और पशुओं का स्वामी सिंह आदि सभी ऊँचे ऊँचे पद के धारक लोग निरन्तर ही सेवा में उपस्थित रहा करते हैं। जिस पद का नाम तीर्थंकर हैं अर्थात ये ही संसार के प्राणियों को उद्धार की पवित्रतम भावना से संसार में तीर्थ-धर्म को करते हैं अर्थात् मोक्ष मार्ग भूत रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान सम्यकचारित्र) का प्रचार एवं प्रसार करते हैं। स्वयं मोक्ष मार्ग पर चलकर दूसरों को भी अपने ही सदुपदेश से प्रभावित कर मोक्ष मार्ग पर चलाते हैं और अन्त में समस्त कर्मों का संहार कर मोक्ष को पधारते हैं।

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं ।
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयं ॥
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं ।
लब्ध्वाशिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥

(स्वामी समन्तभद्र र० क० श्रा)

जिनेन्द्र देव की भक्ति करने वाला भव्य जीव अपरिमित अमर्यादित देवों के स्वामी इन्द्रों की महिमा को और समस्त भरत क्षेत्र के बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजाओं से पूजनीय चक्रवर्ती के पद को तीनों लोकों के सकल देव दानव मानवसिंह आदि को नीचा करने वाले धर्मेन्द्रचक्र (तीर्थंकर पद) को प्राप्त कर अन्त में मोक्ष को प्राप्त करता है।

प्रश्न—मोक्ष किसे कहते हैं। आपने कई बार मोक्ष का कथन तो किया लेकिन उसके असली स्वरूप को अभी तक कहीं पर भी नहीं कहा अतः अब उसका (मोक्ष का) स्वरूप आप हमें अवश्य ही समझाइये।

उत्तर—तुम्हारा प्रश्न बिलकुल ठीक है सर्वथा उपयुक्त है और सामयिक है इसका उत्तर हमारी ओर से नीचे मुआफिक है।

मोक्ष का स्वरूप

शिवमजरमरुमक्षय

मव्याबाधंविशोकभयशङ्कम्

काष्ठागतसुखविद्याविभवंविमलं

भजन्ति दर्शनशरणाः

(स्वामी समन्तभद्र र० श्रा०)

जिस अवस्था में पहुंचने पर यह जीव स्वाभाविक दशाओं में हमेशा के वास्ते हूट

जाते हैं उसे मोक्ष कहते हैं इसी अभिप्राय को विस्तार से भगवान समन्तभद्र स्वामी ने अपने द्वारा रचे हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि जिसमें बुढ़ापा, रोग, विनाश, बाधा पीड़ा शोक (इष्ट वियोग जनित दुःख) किसी भी तरह का भय और किसी भी तरह की शंका न हो और जिसमें सुख और ज्ञान अपनी चरम सीमा में पहुंच चुके हों ऐसी निर्मल दशा का नाम ही मोक्ष है ऐसे मोक्ष को सम्यग्दृष्टि प्राप्त करते हैं।

अतः हे आत्मन् ज्ञानियों का उपदेश तेरे वास्ते बड़ा ही उपकारक है इसलिये हे भद्र न इस संसार की व्यवस्थायें भूल कर उसे मत ठुकरा किन्तु पात्र बनकर शांति पूर्वक अपने आत्म कल्याण के लिये विवेकी परोपकारी महात्माओं ने जो उपाय बताये हैं उन्हें समझने का उपाय कर ज्ञानी पुरुषों की संगति में रह कर उनकी ज्ञान से परिपूर्ण बातों को समझ।

पहिचान। पहिचान कर उन्हें आचरण में ला ऐसा करने से तेरे कर्म बन्धन छिन्न भिन्न हो जायेंगे और तू अवश्य ही मुक्ति के सुख का पात्र बन जायेगा इस समय तू विचार तो सही यह मनुष्य भव जो अत्यन्त दुर्लभ है तुझे मिला हुआ है ज्ञान की ज्योति भी तुझे प्राप्त है। और सत्समागम भी सर्वथा अनुकूल रूप से मिला हुआ है ऐसे अवसर पर भी यदि तू ने अपने आत्मा का उद्धार नहीं किया तो फिर कब करेगा और कब ऐसा सर्व साधन सम्पन्न अवसर पायेगा ऐसे सुअवसर पर यदि आत्म स्वभाव के परम शांत आनन्द का परि-चय और अनुभव नहीं हुआ तो इस मनुष्यभव का मिलना नहीं मिलने के समान ही रहा जैसे मरुभूमि में भ्रमण करने से थका हुआ कोई मृग सरोवर के तटपर पहुंच कर बिना पानी पिये ही लौट जाय तो वह जैसे निरंतर प्यास से पीड़ित हुआ प्यास को दूर करने के

लिए चक्कर लगाया करता है और कष्ट पाता रहता है वैसे ही तेरी दशा होगी अतः यदि तुझे आत्मिक सुख का अनुभव करना है तो ज्ञानी पुरुषों की बनाई हुई तत्त्वज्ञानरूपी शीतल छाया में बैठ कर विश्राम कर और उन्हीं के सत्यमार्ग से आत्मा का अभ्यास कर इस से तुझे अवश्य ही अविनाशी सुख की प्राप्ति होगी प्रत्येक आत्मा का ध्येय अपनी आत्मा को संसार के दुःखों से बचाकर सच्चे आत्मिक सुख प्राप्त करना ही है परन्तु वह आत्मिक सुख से कार्यों के करने से होता है या सुनने से। यदि सुनने से ही होता हो तो आजतक तो सारे संसार में हो रहा है परन्तु आज तक किसी को भी इस सुख की प्राप्ति सुनने मात्र से नहीं हुई है जिन्हें इस सच्चे आत्मिक सुख की प्राप्ति हुई है उन्हें कार्यों के करने से ही हुई है। अतः स्वयमेव आत्मश्रद्धान ज्ञान पूर्वक आचरण करो तब ही आत्मिक सुख का

लाभ होगा। जिन आत्माओं ने कर्तव्य का पालन किया था वे ही संसार में परमात्मा के नाम से पूजे जाते हैं वे परमात्मा दो प्रकार के होते हैं (१ ले) जीवन मुक्त परमात्मा (२ रे) द्रव्य-मुक्त परमात्मा।

जीवन मुक्त परमात्मा का स्वरूप

जीवन मुक्त परमात्मा उन्हें कहते हैं जिन्हों ने अपने पुरुषार्थ से अपने आत्मिक गुणों का घात करने वाले घाती कर्मों का नाश कर दिया हो और जो अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इन अनन्त चतुष्टयों से मण्डित हों। और जो समवसरण में विराजमान रहते हों अपनी दिव्यध्वनि से समस्त तत्त्वों के स्वरूप को (और संसार के प्राणियों के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर) समझाते हों उन्हें जीवन मुक्त परमात्मा कहते हैं। इन्हीं को दूसरे शब्दों में अरहन्त परमेष्ठी कहते हैं।

द्रव्य मुक्त परमात्मा का स्वरूप

द्रव्य मुक्त परमात्मा उन्हें कहते हैं जो शेष (बचे हुए) अघाती कर्मों का भी नाश करके सदा के लिए इस संसार को छोड़ कर अविनाशी मोक्ष स्थान में (सिद्ध शिलापर) पहुँच कर विराजमान हो गये हैं और फिर कभी भी लौटकर संसार में नहीं आते हैं अनन्त काल तक वहां ही आत्मिक सुख में लीन रहते हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को ही द्रव्य परमात्मा या दूसरे शब्दों में निकल परमात्मा कहा जाता है।

इन्हीं का विस्तार से वर्णन

प्रत्येक संसारी जीव के अनादि काल से अष्ट कर्म लगे हुए हैं इन्हीं के कारण ही ये संसारी जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं नाना प्रकार के संसरण के दुःखों को भोग रहे हैं।

अष्ट कर्मों के नाम और काम

(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयुः (६) नाम (७)

गोत्र (८) अन्तराय ये आठ कर्म हैं। ये कर्म दो विभागों में विभक्त हैं। पहले विभाग को घाती कहते हैं। और दूसरे विभाग को अघाती कहते हैं। पहले विभाग में (ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अन्तराय) ये चार कर्म हैं अतः इन्हें घाती कर्म कहते हैं। दूसरे विभाग में वेदनीय आयु नाम गोत्र ये चार कर्म हैं। यहां पर घाती का अर्थ आत्मा के ज्ञान आदि गुणों का घात करना ही है। अघाती का अर्थ आत्मा के खास गुणों का घात न करना ही है अर्थात् ये अघाती कर्म संसार में जीव के वास्ते अच्छी और बुरी दोनों तरह की सामग्री को मिलाते रहते हैं इनका कार्य पुण्य और पाप की सामग्री का संयोग करना है जिसमें यह संसारी हमेशा ही उलझा रहता है।

(१) ज्ञानावरण कर्म उसे कहते हैं जो आत्मा के ज्ञान गुण को प्रगट न होने दे अर्थात पूर्ण ज्ञान न होने दे यह कर्म ज्ञान का सर्वथा

घात नहीं करता यदि सर्वथा ही ज्ञान गुण का घात करदे तो आत्मा के जड़ता का प्रसंग आजायगा जो सर्वथा सिद्धान्त के विरुद्ध है।

(२) दर्शनावरण कर्म उसे कहते हैं जो आत्मा के दर्शन गुण को रोके अर्थात जो सामान्य अवलोकन न होने दे।

(३) मोहनीय कर्म उसे कहते हैं जो आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुण को घाते अर्थात प्रगट न होने दे। इस कर्म के उदय से जीव की परिणति बिलकुल ही विपरीत हो जाती है जैसे मद्य के पीने से मद्यपायी नशे में आकर माता को स्त्री और स्त्री को माता कह देता है उसे यह विवेक रहता ही नहीं है कि माता को माता और स्त्री को स्त्री कहने लगें। इसकी उदयदशा उस धतूरे के रस को पीने वाले मनुष्य की तरह हो जाती है जो तमाम विभिन्न वर्ण वाले पदार्थों को पीला ही कहता है।

इसी तरह से यह मोही जीव भी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को भूलताजा है और अन्यथा ही कहने लगता है।

(४) अन्तराय कर्म उसे कहते हैं जो जीव की अनन्त शक्ति को रोके उसे प्रगट न होने दे इस कर्म के उदय से यह जीव करने की शक्ति रखते हुए भी नहीं कर सकता है। अर्थात स्वपर कल्याण कारण दान आदि उत्तम कार्यों को करने के इच्छा करते हुए भी नहीं कर सकता है यही इस कर्म का कार्य है।

इस तरह से घाती कर्मों का स्वरूप थोड़े में समझाया गया है ये चारों ही कर्म पाप रूप हैं इन में पुण्य प्रकृतियों का नामो निशान भी नहीं है।

(५) आयुकर्म उसे कहते जो जीव को संसार मे किसी भी एक शरीर में रोक रखे—अटकाये रहे। इस कर्म के कारण ही जीव को नरक मनुष्य तिर्यञ्च देव इन चारों के शरीरों मे रहना

पड़ता है और नाना प्रकार की वेदनाओं व यातनाओं को भी भोगना पड़ता है। इस कर्म के उदय से जीव की वैसी ही दशा हो जाती है जैसे कठघरे में पड़े हुए प्राणी की हुआ करती है। अर्थात् यह अपनी इच्छानुसार गमना गमन नहीं कर सकता किन्तु एक ही पर्याय में रुका रहता है यही आयु कर्म का कार्य है।

(६) नाम कर्म उसे कहते हैं जो जीव के नर नारक आदि नाम करावे जैसे कुम्भकार मिट्टी के छोटे बड़े हलके भारी नाना प्रकार के वर्तन बनाता है वैसे ही यह नाम कर्म भी इस जीव के वास्ते छोटा और बड़ा सूक्ष्म (बारीक) स्थूल (मोटा) आदि विविध प्रकार का शरीर निर्माण करता है काना नकटा कुबड़ा चपटा लूला लंगड़ा गञ्जा अन्धा बहिरा गूंगा बूचा आदि नाना प्रकार की विकृत आकृतियों की रचना नाम कर्म से ही हुआ करती हैं अच्छा और बुरा सुहावना आदि सब नाम कर्म की

की हुई सृष्टि ही है दुनिया में जो कुछ भी हरा नीला पीला काला श्वेत आदि दृष्टि गोचर हो रहा है यह सब नाम कर्म की ही कार्य समूह है ऐसा समझना चाहिए ।

(७) गोत्र कर्म उसे कहते हैं जो इस जीव को नीच और ऊँच का अनुभव करावे अर्थात् जिस कर्म के उदय से यह जीव लोक निंदित कुल में जन्म लेता है और लोक पूजित इक्ष्वाकु आदि कुलों में जन्म धारता है यह सब गोत्र कर्म का कार्य है अर्थात् मनुष्यों में चारवर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र) बताये गये हैं उनमें और चारगतिओं (मनुष्य देव तिर्यञ्च और नरक) में जो उच्चता और नीचता का व्यवहार करावे वह गोत्र कर्म है ।

[८] वेदनीय कर्म उसे कहते हैं जो जीव को पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त हुई सामग्री से साता [आनन्द] का अनुभव करावे और पाप कर्म के उदय से प्राप्त हुए पदार्थों से असाता

(दुःख) का अनुभव करावे । जैसे पुण्य के उदय से निरोगता, लक्ष्मी का सम्बन्ध राज्य पाट अधिपना, अच्छा कुटुम्ब अच्छी सुन्दर आज्ञा कारिणी सदा चारिणी स्त्री अच्छा आज्ञाकारी सदाचारी विद्वान विनयी पुत्र सुन्दर सुडौल संगठितशरीर सुन्दर भवन महल मकान आज्ञाकारी सच्चा सेवक सब ठाठ बाट आदि की प्राप्ति होने पर इनसे जो साता का वेदन करावे इसी प्रकार से इन से बिलकुल ही विपरीत उल्टे पदार्थों का पाप कर्म के उदय से संयोग हो जाने पर जो दुःख का वेदन करावे वही वेदनीय कर्म है । इस प्रकार से आठों कर्म का संक्षेप में वर्णन किया उपर्युक्त आठ कर्मों में से चार घाति कर्मों का नाश करने वाले जीव को जीवन मुक्त कहते हैं यह आत्मा सशरीरी वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी और अनुपम विभूति का धारक और संसारी प्राणियों का तारक महान पुण्य

का पुञ्ज होता है इन ही से मोक्ष मार्ग का प्रकाश और प्रसार होता है।

प्रश्न इनको इस प्रकार की अनुपम और असीम सर्वोपरि विभूति के मिलने का जो सम्बन्ध बताया गया है वह कब तक कायम रहता है।

उत्तर—यह जीव इतना जबर्दस्त महान पुण्यात्मा होता है कि इनकी सानी का संसार में कोई दूसरा उस समय हो ही नहीं सकता इसका एक मात्र कारण पूर्व जन्म में संचित अपार पुण्य का भण्डार ही है और वह भण्डार संसार भर के दुखी प्राणियों के दुःख को दूर करने की अति प्रबल पवित्र भावना से ही भरा गया था उसी का फल ही यह जीवन मुक्तावस्था है यह अवस्था जब तक इसके आयु कर्म सत्ता में विद्यमान रहता है तब तक बनी रहती है उस अवस्था में यह जीव अपनी पूर्व जन्म में भाई हुई भावना के

के अनुसार तमाम संसार के प्राणियों के उद्धार की उत्कट भावना से प्रेरित होकर ही मानों दिव्य ध्वनि से सन्मार्ग का उपदेश देता है जिसे सुनकर अनेक जीव मोक्ष मार्ग पर चल कर अपना कल्याण कर लेते हैं।

अन्त में यही जीवन मुक्तात्मा अपने अव शिष्ट अघाती कर्मों का संहार करके सिर्फ ज्ञानात्मक निर्विकार निराकार शुद्ध चैतन्य स्वरूप सिद्ध परमात्मा बन जाता है और सिद्धालय मे (मोक्ष में) जाकर विराजमान रहता है वहां पर यह अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड आत्म प्रदेश ज्ञानाकार अविकार अन्तिम शरीर के प्रमाण से किञ्चित न्यून प्रमाण वान होकर रहता है। पूर्वोक्त अष्ट कर्म के नष्ट होने से इनके अष्टगुण प्रगट हो जाते हैं जो निम्न प्रकार से हैं।

१ ज्ञानावरण के नाश से अनन्त ज्ञानगुण प्रगट होता है। २ दर्शनावरण के नाश से

अनन्त दर्शन गुण प्रगट होता है। ३ मोहनीय के नाश से सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है। ४ अन्तराय के नाश से अनन्त वीर्य गुण प्रगट होता है। ५ आयु के नाश से अवगाहनगुण प्रगट होता है। ६ नाम के नाश से सूक्ष्मत्व गुण प्रगट होता है। ७ गोत्र के नाश से अगुरु लघु गुण प्रगट होता है। ८ वेदनीय के नाश से अव्याबाध गुण प्रगट होता है।

इस प्रकार से ये अष्टगुण शुद्ध जीव का निजी स्वरूप है अतः संसारी जीवों के प्रगट रूप में नहीं रहता। यह तो अस्तित्व के अभाव में ही जागृत होता है यह भी एक नवीन शुद्ध जीव की पर्याय ही है पर्याय दृष्टि ऐसा व्यवहार होता है द्रव्य दृष्टि से तो गुण द्रव्य में सदा ही विद्यमान रहते हैं नया कोई भी गुण उत्पन्न नहीं होता है क्यों कि गुण पर्यायात्मक द्रव्य होता है ऐसा आगमका विधान है इस तरह से हं भव्यो परमात्मा समान

तुम्हारा आत्मा है उसे समझाओ सावधानी से उसे शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण अविनाशी सुख से परिपूर्ण करो यही इस ग्रंथ के लिखने का अंतिम उद्देश्य है। स्वपर कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही यह ग्रंथ अपने स्वरूप क्षयोपशम के अनुसार संग्रहीत किया गया है आशा है मुमुक्षु जन इसकी सहायता से स्वपर कल्याण की ओर अग्रसर होंगे।